हिन्दी त्रैमासिक

विवेक ज्योति

वर्ष ३० अंक [illegible]

हृदय की पवित्रता से ही ईश्वर का दर्शन होता है। – स्वामी विवेकानन्द

ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर

* १९९२ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सह-सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १५) | वर्ष ३० अंक ४ | एक प्रति ४)५०

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष: २५२६९

अनुक्रमणिका

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर

वर्ष ३०] * १९९२ * [अंक-४

काल की क्रीड़ा

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते ।
इत्थं नेयौ रजनिदिवसौ लोलयन् द्वाविवाक्षौ
कालः कल्यो भुवनफलके क्रीडति प्राणिशारैः ।।

जिस घर में कभी अनेक लोग रहते थे, वहाँ आज एक ही व्यक्ति निवास करता है। और जिस घर में एक आदमी रहता था, उसमें बहुत से लोग हो गए तथा अन्त में कोई भी नहीं बचा। इसी प्रकार सबको कलवित करने वाला काल इस संसार रूपी बिसात पर रात-दिन-रूपी दो पासों को लुढ़काकर जीव रूपी गोटियों को चलाते हुए खेल रहा है।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्'—४२

अग्नि-मंत्र

(कुमारी मेरी हेल तथा कुमारी हेरियट हेल को लिखित)

द्वारा श्री जार्ज. डब्ल्यू. हेल,
५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो,
२६ जून, १८९४

प्रिय बहनो,

हिन्दी के महाकवि तुलसीदास ने अपने रामायण के स्वस्ति-वाचन में लिखा है—"मैं साधु तथा असाधु दोनों की ही चरणवन्दना करता हूँ, किन्तु हाय, मेरे लिए दोनों ही समान रूप से दुःखदायी हैं। असाधु व्यक्ति मेरे समीप आकर मुझे अत्यन्त दुःख पहुँचाते हैं और साधु व्यक्ति जब मुझे छोड़ जाते हैं, तब वे अपने साथ ही मेरे प्राणों को हर ले जाते हैं।"

मैं इस बात को मानता हूँ। जिन भगवत्प्रिय साधु जनों के प्रति प्रेम तथा जिनकी सेवा हीं मेरे लिए इस ससार में सुख व प्रेम का एकमात्र अवलम्बन है, उनका विरह मेरे लिए मृत्यु पीडा के समान है। किन्तु ये सब आवश्यक हैं। हे मेरे प्रियतम के वेणु-संगीत, मुझे ले चलो—मैं तुम्हारा ही अनुसरण कर रहा हूँ। उदारमना, मधुर-प्रकृति, सहृदय, तुम जैसे पवित्र लोगों से वियुक्त होकर मुझे जो कष्ट हो रहा है, जो यातनाएँ मिल रही हैं, उसे व्यक्त करना मेरे लिए असम्भव है। हाय, यदि मैं स्टोइक (Stoic) दार्शनिकों की तरह सुख-दुःख में निर्विकार रह पाता!

आशा है, तुम लोग सुन्दर ग्रामीण दृश्यों का आनन्द ले रही होगी।

---

१. बन्दौ सन्त असन्तन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥
बिछुरत एक प्रान हर लेई। मिलत एक दारुन दुख देई ॥

ग्राहकों से निवेदन

(१) जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा इस चतुर्थ अंक के साथ समाप्त हो रहा है, वे कृपया अगले वर्ष के लिए अपने चन्दे का १५/- संलग्न मनीआर्डर फार्म द्वारा भिजवा दें। आप में से जिनका संपूर्ण चन्दा जमा नहीं है, वे भी कृपया संलग्न मनीआर्डर फार्म में दर्शायी बकाया राशि भेजकर वर्ष की अपनी समस्त प्रतियाँ सुरक्षित करवा लें।

(२) **ग्राहकों से निवेदन** है कि वे मनीआर्डर के कूपन में भी अपना **नाम और पूरा** पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। पुराने ग्राहक **अपनी ग्राहक-संख्या** का भी अवश्य उल्लेख करें तथा नये ग्राहक **लिख दें—"नया** ग्राहक"। यदि पुराने ग्राहकों को अपनी **ग्राहक-संख्या का** स्मरण न हो, तो वे कृपया लिखें—"पुराना **ग्राहक"।**

(३) **जिन ग्राहकों को प्राय**: डाक की अव्यवस्था के कारण पत्रिका के **न मिलने की शिकायत** रहती है, उनसे अनुरोध है कि वे यदि **प्रति अंक ३/०० का** अतिरिक्त व्यय वहन करके पत्रिका वी. **पी. से मँगवाएँ,** तो सभी अंक उन्हें सुरक्षित मिल जाएँगे। **ग्राहकों पर यह** अतिरिक्त व्यय-भार पड़ने का हमें दुःख है, पर पत्रिका की सुरक्षित प्राप्ति का यही सरल उपाय है। आशा है आप हमें इसमें सहयोग देंगे। जिन ग्राहकों को हमारा यह सुझाव मान्य है, वे कृपया हमें इसकी सूचना दें।

(४) पत्र लिखते समय अपनी ग्राहक-संख्या तथा अपने नाम एवं पूरे पते का स्पष्ट रूप से अवश्य उल्लेख करें।

व्यवस्थापक,

'विवेक-ज्योति'

अनुक्रमणिका

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्टूबर-नवम्बर-दिसम्बर

वर्ष ३०] * १९९२ * [अंक-४

काल की क्रीड़ा

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते ।
इत्थं नेयौ रजनिदिवसौ लोलयन् द्वाविवाक्षौ
कालः कल्यो भुवनफलके क्रीडति प्राणिशारैः ।।

जिस घर में कभी अनेक लोग रहते थे, वहाँ आज एक ही व्यक्ति निवास करता है। और जिस घर में एक आदमी रहता था, उसमें बहुत से लोग हो गए तथा अन्त में कोई भी नहीं बचा। इसी प्रकार सबको कलवित करने वाला काल इस संसार रूपी बिसात पर रात-दिन-रूपी दो पासों को लुढ़काकर जीव रूपी गोटियों को चलाते हुए खेल रहा है।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्'—४२

अग्नि-मंत्र

(कुमारी मेरी हेल तथा कुमारी हेरियट हेल को लिखित)

द्वारा श्री जार्ज. डब्ल्यू. हेल,
५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो,
२६ जून, १८९४

प्रिय बहनो,

हिन्दी के महाकवि तुलसीदास ने अपने रामायण के स्वस्ति-वाचन में लिखा है—"मैं साधु तथा असाधु दोनों की ही चरणवन्दना करता हूँ, किन्तु हाय, मेरे लिए दोनों ही समान रूप से दुःखदायी हैं। असाधु व्यक्ति मेरे समीप आकर मुझे अत्यन्त दुःख पहुँचाते हैं और साधु व्यक्ति जब मुझे छोड़ जाते हैं, तब वे अपने साथ ही मेरे प्राणों को हर ले जाते हैं।"[1]

मैं इस बात को मानता हूँ। जिन भगवत्प्रिय साधु जनों के प्रति प्रेम तथा जिनकी सेवा ही मेरे लिए इस संसार में सुख व प्रेम का एकमात्र अवलम्बन है, उनका विरह मेरे लिए मृत्यु पीड़ा के समान है। किन्तु ये सब आवश्यक हैं। हे मेरे प्रियतम के वेणु-संगीत, मुझे ले चलो—मैं तुम्हारा ही अनुसरण कर रहा हूँ। उदारमना, मधुर-प्रकृति, सहृदय, तुम जैसे पवित्र लोगों से वियुक्त होकर मुझे जो कष्ट हो रहा है, जो यातनाएँ मिल रही हैं, उसे व्यक्त करना मेरे लिए असम्भव है। हाय, यदि मैं स्टोइक (Stoic) दार्शनिकों की तरह सुख-दुःख में निर्विकार रह पाता!

आशा है, तुम लोग सुन्दर ग्रामीण दृश्यों का आनन्द ले रही होगी।

---

१. बन्दौ सन्त असन्तन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ।।
बिछुरत एक प्रान हर लेई। मिलत एक दारुन दुख देई ।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

—"समस्त प्राणियों के लिए जो रात्रि है, संयमी पुरुष उसमें जागते रहते, है और जब प्राणिसमूह जगते रहते हैं, आत्मज्ञानी मुनि के लिए तब वह रात्रिस्वरूप है।"[२]

इस जगत् की धूल तक भी तुम्हारा स्पर्श न कर सके, क्योंकि कवियों का ही कहना है कि यह जगत् फूल-मालाओं से ढँका हुआ एक सडा मुर्दा है। यदि तुमसे हो सके, तो इसका स्पर्श तक न करना। तुम तो स्वर्गस्थ विहंगमों के शिशु शावक हो—इससे पहले कि तुम्हारे पैर इस दूषित पंकराशि को, इस संसार को स्पर्श करें, चले आओ, उडकर आकाश की ओर चले आओ।

'ओ तुम, जो जाग रहे हो, फिर से सो मत जाना।'

'जागतिक प्राणियों के लिए प्रेम करने की अनेक वस्तुएँ हैं—उनको उनसे प्रेम करने दो। हमारे प्रेमास्पद तो एक ही हैं—और वे हैं हमारे प्रभु। वे लोग क्या क्या कहते हैं, इसकी हमें कोई परवाह नहीं। किन्तु जब वे हमारे प्रेमास्पद पर विकट विशेषणों की उपाधि जोडकर उन्हें रँगना चाहते हैं तो हमें भय लगता है। उन लोगों की जो मर्जी हो करते रहें, हमारे लिए तो वे केवल प्रेमास्पद ही है—मेरे प्रियतम, प्रियतम, प्रियतम, और कुछ भी नहीं।'

'यह कौन जानना चाहता है कि उनमें कितनी शक्ति तथा कितने गुण हैं और हमारी भलाई करने की कितनी सामर्थ्य उनमें विद्यमान है? हम निश्चित रूप से यही कहेंगे कि उनसे हमारा प्रेम धन के लिए नही है। हम अपने प्रेम का विक्रय नहीं करते। हमें इसकी आवश्यकता नहीं है। हम तो उसका वितरण करते हैं।

'हे दार्शनिक! क्या तुम हमसे उनके स्वरूप की, उनके ऐश्वर्य तथा गुण की बातें करना चाहते हो? मूर्ख! उनके अधर के एक

२ गीता ॥२।६९॥

चुम्बन मात्र के लिए यहाँ हमारे प्राण निकल रहे हैं। तुम अपनी उन व्यर्थ की वस्तुओं को अपने घर वापस ले जाओ और मेरे लिए मेरे प्रियतम का एक चुम्बन भेज दो—क्या तुम यह कर सकते हो?'

'मूर्ख! किसके सम्मुख भय तथा आतंक से तुम अपने लडखडाते घुटने टेक रहे हो? मैंने अपने गले के हार को उनके गले में डाल दिया है तथा उसमें एक धागा बाँध कर उनको मैं अपने साथ लिवा ले जा रही हूँ—इस डर से कि कहीं क्षण भर के लिए भी वे मुझे छोडकर अन्यत्र न चले जाएँ। वह हार प्रेम का हार है और वह धागा प्रेमोल्लास का धागा है। मूर्ख, तुम इस स्वरूप को नहीं जानते कि वह असीम मेरे प्रेम के बन्धन में बँध कर मेरी मुट्ठी में आ जाता है। क्या तुम्हें यह नहीं मालूम कि विश्व के वे नियन्ता वृन्दावन की गोपियों की नूपुर-ध्वनि के साथ-साथ नाचते फिरते थे?'

उन्मत्त की तरह यह जो कुछ मैं लिख गया, उसे क्षमा का देना। अव्यक्त को व्यक्त करने के प्रयास की मेरी इस धृष्टता को माफ कर देना—वह सिर्फ अनुभव का ही विषय है। सदा मेरा शुभाशीर्वाद लेना।

तुम्हारा भाई,
विवेकानन्द

रामकृष्णाय ते नमः

रवीन्द्रनाथ गुरु

राजबोड़ा संबर, सम्बलपुर

नमः परमहंसाय ह्यखण्डानन्दबोधिने।
रामश्च कृष्णरूपाय रामकृष्णाय ते नमः।।

सारदाहृदयेशाय सत्यदर्शनकांक्षिणे।
यतये ब्रह्मरूपाय रामकृष्ण ते नमः।।

कालिकालीनचित्ताय कारुण्यामृतसिन्धवे।
कामकाञ्चनमुक्ताय रामकृष्णाय ते नमः।।

जितेन्द्रियाय शान्ताय त्यागिने च तपस्विने।
ज्ञातवेदान्ततत्त्वाय रामकृष्णाय ते नमः।।

समाधिसुखबोधाय ज्ञान साराभिवर्षिणे।
कालनिग्रहदक्षाय रामकृष्णाय ते नमः।।

योगवेदान्तनिष्ठाय कल्याणप्रतिमूर्तये।
अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः।।

विवेकानन्दरूपेण धर्मसारप्रसारिणे।
भवतृष्णाविनाशाय रामकृष्णाय ते नमः।।

सर्वधर्मानुरक्ताय सर्वत्रेश्वरबुद्धये।
नरर्षभाय गुरवे रामकृष्णाय ते नमः।।

चिन्तन (१२)

सबसे बड़ा भक्त कौन ?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्‌बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं पाठकों के अनुरोध पर उन्हें 'विवेक-ज्योति' में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत अनुलेख 'आकाशवाणी', रायपुर से साभार गृहीत है—स.)

हम सोचते हैं कि जो मन्दिर, मसजिद या गिरजाघर में जाता है, धर्मशास्त्र का पठन करता है, वह ईश्वर का बड़ा भक्त है। पर मात्र इतने से कोई भगवान का भक्त नहीं हो जाता। जो अपने कर्तव्य के पालन में त्रुटि करता है, जिसके अन्तःकरण में दूसरों का दुःख पीड़ा उत्पन्न नहीं करता, जो स्वार्थी है और अपने लिए जीता है, वह मन्दिर में जाकर कितना भी घण्टा बजाए, मसजिद में जाकर कितना भी नमाज पढ़े, गिरजाघर में जाकर कितना भी घुटना टेकें, वह भगवान का भक्त नहीं बन जाता। जो अपने कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करता और कर्तव्य को बोझ न मान अपने प्रेमास्पद की सेवा मानता है, वही वास्तव में सबसे बड़ा भक्त है।

कथा आती है कि एक बार नारदजी जब वैकुण्ठ गये, तो उन्होंने देखा कि महाविष्णु चित्र बनाने में मग्न हैं तथा आसपास शिव, ब्रह्मा इत्यादि अगणित देवता विष्णु का कृपा-कटाक्ष पाने के लिए लालायित खड़े हैं, किन्तु विष्णु हैं

कि उन्हें चित्र बनाने से फुरसत ही नहीं। चित्रलीन विष्णु ने नारदजी को भी नहीं देखा। विष्णु का यह व्यवहार नारद को बड़ा अपमानजनक प्रतीत हुआ। वे आवेश में विष्णु के समीप गये और पास ही खड़ी लक्ष्मी से उन्होंने पूछा, "आज इतनी तन्मयता के साथ भगवान किसका चित्र बना रहे है?" लक्ष्मी ने अपने स्वाभाविक भृकुटि-चांचल्य के साथ कहा, "अपने सबसे बड़े भक्त का— आपसे भी बड़े भक्त का!"

दोहरे अपमानित नारदजी के पास जाकर देखा, तो आश्चर्य से स्तब्ध रह गये— अचल ध्यानावस्थित विष्णु एक मैले-कुचैले अर्धनग्न मनुष्य का चित्र बना रहे थे। नारदजी का चेहरा क्रोध से तमतमा गया। वे उल्टे पाँव भूलोक की ओर चल पड़े। कई दिनों के भ्रमण के बाद उन्हें एक अत्यन्त घिनौनी जगह पर पशु-चर्मों से घिरा एक चमार दिखायी दिया, जो गन्दगी और पसीने से लथपथ हो चमड़ों के ढेर को साफ कर रहा था। पहली दृष्टि में ही नारदजी ने पहचान लिया कि विष्णु इसी का चित्र बना रहे थे। दुर्गन्ध के कारण नारदजी उसके पास न जा सके। आड़ में रहकर दूर से ही उसकी दिनचर्या का निरीक्षण करने लगे।

सन्ध्या होने को आयी, किन्तु वह चमार न तो मन्दिर में गया और न आँखें मूँदकर उसने क्षणभर के लिए हरिस्मरण ही किया। नारदजी के क्रोध की सीमा न रही। अधमाधम चमार को श्रेष्ठ बताकर विष्णु ने उनका कितना घोर अपमान किया है। आवेश में अन्धे हो विष्णु को श्राप देने के लिए उन्होंने अपनी तेजस्वी बाहु ऊपर उठायी ही थी कि लक्ष्मी ने प्रकट होकर उनका हाथ पकड़ लिया और

कहा, "देवर्षे, भक्त की उपासना का उपसंहार तो देख लीजिए। फिर जो करना हो कीजिए।"

उस चमार ने चमड़ों के ढेर को समेटा। सबको एक गठरी में बाँधा। फिर एक मैले कपड़े से सिर से पैर तक शरीर को पोंछा और गठरी के सामने झुककर विनय-विह्वल वाणी में कहने लगा, "प्रभो, दया करना। कल भी मुझे ऐसी ही सुमति देना कि आज की तरह ही पसीना बहाकर तेरी दी हुई इस चाकरी में सारा दिन गुजार दूँ।"

और नारदजी को विश्वास हो गया कि वह चमार विष्णु को क्यों सर्वाधिक प्रिय है। तो ईश्वर के बन्दे होने का यह मतलब नहीं कि हम अपने कर्त्तव्य-कर्मों की उपेक्षा कर संसार से पलायन कर जाएँ, या कि आलसी बनकर पड़े रहें और दूसरों की कमाई रोटी तोड़ते रहें। जो ईमानदारी से अपना और अपने लोगों का पेट नहीं पाल सकता, वह ईश्वर की क्या बन्दगी करेगा? जिसने दूसरे के लिए पसीना बहाना नहीं जाना, उसको ईश्वर—भक्ति का क्या तात्पर्य?

बहुधा हमारी ईश्वर-भक्ति एक दिखावा होती है। हमारा धर्मस्थानों में जाना या धर्मग्रन्थों का पाठ करना भी या तो दिखाने के लिए होता है अथवा व्यापार के लिए। यदि हम धार्मिक कहलाने वाले इन कृत्यों के द्वारा भौतिक लाभ ही पाना चाहें, तो हमारा ईश-भजन भी व्यवसाय बन जाता है। कसौटी यह है कि हम ईश्वर को चाहते हैं या ईश्वर से चाहते हैं? सबसे बड़ा भक्त वह है, जो ईश्वर को चाहता है और उसके बनाये जीवों की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहता है। वह तो यही कहता है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

—मुझे न तो राज्य की चाह है, न स्वर्ग की और न मुक्ति की। मैं तो बस शोक-सन्तप्त प्राणियों के दुःख-कष्टों को मिटाना चाहता हूँ।

*

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

चालीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काकुडगाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता को देखकर हम भी इसे धारावाहिक के रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिंदी रूपान्तरकार हैं श्री राजेंद्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के अध्यापक हैं।—स.)

श्यामपुकुर के मकान में श्रीरामकृष्ण लगातार भगवच्च्चर्चा कर रहे हैं। साकार निराकार के द्वंद्व को लेकर बातें करते हुए ठाकुर गम्भीर तत्व तक जा पहुचे हैं। कह रहे हैं, "ब्रह्म सत्य है और संसार मिथ्या—इस विचार के बाद समाधि होने पर रूप आदि कुछ भी नहीं रह जाते।" अर्थात् तब साकार निराकार तक पहुँच जाता है। विचार के बाद समाधि होती है—इस विषय में योगियों और ज्ञानियों के बीच थोड़ा मतभेद है। सुषुप्ति या मूर्छित अवस्था में जैसे होता है, वैसे ही समाधि-अवस्था में भी मनुष्य का कोई बाहरी व्यवहार नहीं रह जाता, शरीर मन निष्क्रिय हो जाते हैं। जब विचार के द्वारा जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है तथा एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है—यह बोध स्थिर हो जाता है, तब ज्ञानी का चरम लक्ष्य पाना हो जाता है। ब्रह्म को छोड़ बाकी सब मिथ्या है—इस तत्व को निश्चित

रूप से समझ लेना ही ज्ञानी का लक्ष्य है। तो ब्रह्म को किसी नये रूप में समझने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि ब्रह्म ही तो मनुष्य की वास्तविक सत्ता है। ब्रह्म के ऊपर जो आवरण पड़ा है, उसी को मिथ्या समझ लेने पर ज्ञानी का कार्य समाप्त हुआ; परंतु इस ज्ञान के परिणामस्वरूप समाधि होगा ही, अर्थात् उसकी देह, मन, इंद्रियाँ आदि कार्य से विरत होगी ही—ऐसा निश्चित नहीं है।

समाधि कहते ही सामान्यतया हमारे मन में योगी या भक्त के भावसमाधि की बात उठती है। भावसमाधि में भक्त जब अपने मन को भगवान में लीन कर देता है, तब उसका बाह्य क्रियाकलाप बंद हो जाता है। योगी के मतानुसार चित्त को वृत्तिशून्य करना ही योग है और चित्त के वृत्तिशून्य हो जाने पर देह तथा इंद्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं, क्योंकि मन के संयोग बिना ये काम नहीं कर सकतीं। योगीजन इसी को समाधि कहते हैं। 'समाधि' शब्द का अर्थ है—सम्यक रूप से आधान या स्थापन।

योगी, ज्ञानी तथा भक्त की समाधि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है—तीनों एक नहीं हैं। योगी द्वारा चित्त को वृत्तिशून्य कर लेने पर वृत्ति का कार्य 'मैं-मेरा' का बोध उत्थित नहीं होता। अहं-मम की वृत्तियाँ शान्त हो जाने पर शरीर आदि को परिचालित करने वाला कोई नहीं रह जाता है। यही योगियों की समाधि है।

भक्त भगवान में मन को लगाते-लगाते उस ध्येय वस्तु में ही इतने तल्लीन हो जाते हैं कि देह-इंद्रियादि की ओर उनका मन ही नहीं जाता। अतः देह-इंद्रियादि भी निश्चल हो जाती हैं—यह भक्तों की समाधि है। इनमें भेद यह है

कि योगी मन को वृत्तिशून्य करते हैं और भक्त अपने मन को उपास्य में लीन कर देते हैं। फिर ज्ञानी, भक्त और योगी की समाधि में भी विभिन्न स्तर होते हैं।

भक्त और योगी की समाधि का पार्थक्य हमने स्पष्ट देखा और ज्ञानी की समाधि? ज्ञानी की समाधि है—अपने स्वरूप में स्थिति। ज्ञानी की समाधि में देह इंद्रियादि का 'मैं-मेरा' भाव नहीं रहता। अब इस 'मैं-मेरा' का बोध न रहने पर देह–इंद्रियादि कार्य करेंगे या नहीं? इसके उत्तर में ज्ञानयोगी कहते हैं—कर भी सकते हैं और नहीं भी। यदि करें तो यह समझना चाहिए कि ये पूर्व कर्मों के फल हैं। यहाँ पर जिसे प्रारब्ध कहा जाता है, वही उसके कर्म का हेतु है। क्योंकि 'मैं' नाम की वस्तु तो वहाँ नहीं रहती है और रहने पर भी उसका एक आभास मात्र ही रहता है। यह आभास पूर्वाभ्यास के फलस्वरूप आता है, परंतु उस कर्म में उसकी कर्तव्यबुद्धि नहीं रहती। सब हो रहा है, पर अहं–बोध नहीं है। गीता में भगवान ने इसे विशेष रूप से दिखाया है — **हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते।**

यह कर्म करके भी नहीं करना, यही ज्ञानी की अवस्था है। 'देहस्थोऽपि न देहस्थः'—देह में रहकर भी देह में नहीं है। अर्थात् देह का व्यापार जब तक है, तब तक हम कहते हैं कि ये ज्ञानी है एवं इसी देह में इन्हें ज्ञान की उपलब्धि हुई है। किन्तु 'देह में नहीं हैं' का अर्थ है—'यह मेरी देह है' ऐसा ममत्वाभिमान उनमें नहीं है। उन्होंने जान लिया है कि यह सब मिथ्या है। मिथ्यात्व का यह निश्चय ज्ञान का परिणाम है। इसी को हम 'ब्रह्म–साक्षात्कार' कहते हैं। लेकिन इस शब्द में एक त्रुटि है। जगत् की अन्य वस्तुओं को हम जिस

प्रकार देखते है, उसी प्रकार ब्रह्म को देखना सामान्य अर्थों में "ब्रह्म-साक्षात्कार" कहलाता है, परंतु यह ठीक नहीं है। 'ब्रह्म-साक्षात्कार' का अर्थ हुआ ब्रह्म को इंद्रियों का गोचर करना। नेत्र सभी ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण है। अर्थात् नेत्र कहने का अर्थ केवल नेत्र ही नहीं अपितु समस्त इंद्रियाँ हैं। उसके द्वारा जो अनुभव होता है, उसे साक्षात्कार कहते हैं। परतु ब्रह्म तो घट-पट के समान कोई बाह्य वस्तु नहीं कि जिसे इद्रियों के द्वारा देखा जा सके। अतः यहाँ पर 'ब्रह्म-साक्षात्कार' का अर्थ यह लेना होगा कि ब्रह्म की उपलब्धि करने के लिए बीच में कोई माध्यम या उपाधि नहीं है। जब हम नेत्रों द्वारा किसी वस्तु को देखते हैं, तब उस वस्तु के साथ नेत्रों का स्पर्श होता है और वही स्पर्श मन में वृत्ति उत्पन्न करता है। फिर मन की वृत्तियों के आत्मज्योति में उद्भासित हो उठने पर वस्तु का अनुभव होता है। दार्शनिकों के मतानुसार इसी प्रणाली से वस्तु का अनुभव होता है। अतः वस्तु साक्षात्कार करने के लिए इंद्रिय-मन के अतिरिक्त भी उसका सहकारी कारण, यथा—प्रकाश, शारीरिक स्वस्थता आदि की भी आवश्यकता है। इन सहकारी कारणों के बिना वस्तु का बोध नहीं होता।

लेकिन ब्रह्म-साक्षात्कार किस तरह होता है? उस अवस्था में ब्रह्म का अबाध रूप से अनुभव होता है—अर्थात् किसी अतराल या व्यवधान के माध्यम से वह अनुभव होता हो, ऐसी बात नहीं। यह स्व-स्वरूप की अनुभूति है—ठाकुर जिसे 'बोध में बोध होना' कहते थे, वही ब्रह्मानुभूति है। यह अनुभूति होने पर ज्ञानी को समाधि

होती है। इसमें देह निष्क्रिय ही हो, यह आवश्यक नहीं है। यदि देह काम करता रहे और ज्ञानी उसमें अपने अहं को लिप्त न करें, तो वह समाधिस्थ ही हैं। उस अवस्था में उनका अभिमान नहीं रहता, परंतु देह, इंद्रियादि की क्रिया चल सकती है। यह ज्ञानी की समाधि है।

और भक्त की समाधि? भक्त जिस वस्तु में मन को केन्द्रीभूत करता है, मन जब उसे छोड़कर किसी अन्य वस्तु की ओर नहीं जाता, तब उसे भक्त की समाधि कहते हैं। इसके तीन विभाग होते हैं—बाह्य, अर्धबाह्य तथा अर्न्तदशा। जब मन ईश्वराभिमुखी होता है तथा व्यवहार भी उसी के द्वारा नियंत्रित होता है, तब वह बाह्यदशा है। फिर जब बाह्य व्यवहार का लोप हो जाता है, फिर भी बाह्य संज्ञा पूरी तरह लुप्त नहीं होती, तब उसे अर्धबाह्य दशा कहते हैं। इनमें मन का अधिकांश भाग भीतर ही खिंचा हुआ है, थोड़ा-थोड़ा बाहर का आभास मात्र है। इससे भी परे अर्न्तदशा में सारा बाह्य व्यवहार बंद हो जाता है। इस दशा के साथ समाधि का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी योगी की समाधि से यह भिन्न है। क्योंकि भक्त निर्गुण-निराकार की नहीं, अपितु सगुण ईश्वर की उपासना करता है; या फिर निर्गुण की उपासना करता भी है, तो अपने आपको पूरी तरह लीन कर देने के उद्देश्य से नहीं करता।

भक्त और ईश्वर

ठाकुर ने यहाँ पर जो कहा कि इस प्रकार समाधि अर्थात् सम्यक् रूप से ईश्वर में स्थिति होने पर रूप आदि सब उड़ जाता है अर्थात् उनके संबंध में मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है, ईश्वर का व्यक्ति के रूप में बोध नहीं

होता—यह एक बड़ी गहरी दार्शनिक बात है। भक्त भगवान को व्यक्ति के रूप में ही सोचता है और देखता है। व्यक्तित्व का अर्थ है उस वस्तु की एक ऐसी विशेषता, जो उसे अन्यान्य वस्तुओं से पृथक करती है, उसके चारों ओर मानों एक घेरा बना देती है। जब तक हम ईश्वर को पृथक रूप में देखते हैं, तब तक हमारे लिए यह उनका घेरा हुआ व्यक्तित्व ही रहता है। किंतु जब ईश्वर के अतिरिक्त और कोई बोध नहीं रह जाता, तब ईश्वर का व्यक्तित्व भी नहीं रह जाता। ईश्वर को ईशिता या नियन्ता कहते हैं। जगन्नियन्ता के रूप में वे व्यक्ति हैं, क्योंकि जिसका वे नियंत्रण करते हैं, उससे पृथक हैं। परंतु यदि जगत् का अस्तित्व ही लोप हो जाए तो फिर वे किसका नियंत्रण करेंगे? तब उनका ऐश्वर्य कहाँ रह गया? अतः तब वे ईश्वर नहीं रह जाते, तब उन्हें व्यक्ति नहीं कहा जा सकता।

स्वाभाविक रूप से ही मन में यह प्रश्न उठता है—तो फिर वे क्या हैं? ईश्वर के लक्षण उन पर प्रयुक्त न होने पर, हम उनका किस प्रकार वर्णन करेंगे? हम तो इसी रूप में उनका वर्णन करते हैं कि वे सर्वात्मा हैं, सर्वेश्वर हैं, सर्वत्र वे ही ओतप्रोत हैं, सबको वे ही चला रहे हैं, इत्यादि। यह सब निवृत्त हो जाने पर हम उन्हें कैसे समझेंगे? किस प्रकार उनका वर्णन करेंगे?

ठाकुर इसका उत्तर देते हैं,"वे क्या हैं, यह मुख से नहीं कहा जा सकता। कहे भी कौन? जो कहेंगे वे ही नहीं रह गये।" ठाकुर के 'नमक के पुतले द्वारा समुद्र मापने' का सुन्दर दृष्टान्त यहाँ पर बड़े सार्थक रूप से प्रयुक्त हो जाता

है। समुद्र लवणमय है, नमक का पुतला भी वही है—तत्त्वतः दोनों एक प्रकार होकर भी पृथक हैं। एक जगह वह तरल एवं फैला हुआ है और दूसरी जगह घनीभूत रूप में है। यह रूप-विशिष्ट व्यक्ति अरूप समुद्र के आयतन के विषय में खोजबीन कर रहा हैं। समुद्र के भीतर जाकर वह गल गया, उसका पृथक् अस्तित्व अब नहीं रहा। तब कौन बताएगा कि समुद्र इतना गहरा है, इतना लंबा है और इतना चौड़ा है? हम लोग अपने सीमित व्यक्तित्व के द्वारा अपने सृष्टा एवं नियन्ता तत्त्व का अनुसंधान कर रहे हैं, उनके संबंध में सत्य तक पहुँचने जा रहे हैं। इस पथ पर चलते चलते हमारे अपने स्वरूप की धारणा में भी परिवर्तन होता जाता है—होते होते हम ऐसी अवस्था में पहुँचते हैं, जहाँ हमारा 'मैं' नहीं रह जाता, गल जाता है। तब फिर ब्रह्म स्वरूप की चर्चा भला कौन करेगा?

यह बात बड़ी गम्भीरतापूर्वक सोचने की है। हम ब्रह्म हो जाते हैं। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—ब्रह्मविद् ब्रह्मज्ञान के द्वारा ब्रह्म ही हो जाते हैं। 'भवति' या 'हो जाते हैं' उक्ति का अर्थ क्या ब्रह्म रूप में परिणत हो जाना है? नहीं ऐसी बात नहीं। स्वरूपतः तो वह ब्रह्म ही था, परंतु उसने स्वयं को उससे एक पृथक व्यक्ति समझकर उससे भिन्न एक ईश्वर का चिन्तन किया। यह चिन्तन करते करते उसका मन शुद्ध होता जाता है, व्यक्तित्व में परिवर्तन होता रहता है और साथ ही साथ उसकी ईश्वर विषयक धारणा भी बदलती जाती है। क्रमशः एक ऐसी अवस्था आती है, जब उसके अपने व्यक्तित्व का लोप हो जाता है। तब वह अपने ईश्वर का पृथक रूप से चिन्तन नहीं कर पाता। अतः वह ईश्वर स्वरूप हो जाता है, जो था वही रह गया, उसके भीतर कोई

परिवर्तन नहीं आया। केवल जिस आवरण के कारण वह अपने को ईश्वर से भिन्न समझ रहा था, वह दूर हो गया और इसके साथ ही पृथकता की भ्रांति भी दूर हो गयी। अब ईश्वर के स्वरूप का निर्णय कौन करे, इसीलिए ब्रह्म क्या है यह कोई कह नहीं सकता; जो कहेगा वही नहीं रह जाता। ब्रह्म में कहने योग्य कोई लक्षण होने पर वे व्यक्ति हो जाते। हम कुछ ऐसे लक्षणों के द्वारा किसी एक को व्यक्ति कहते हैं, जो उसे दूसरों से पृथक करता है। परंतु जब उसके सारे लक्षण और गुण उससे दूर हो गये, तब दूसरों से पृथक करने योग्य कोई उपाधि उसमें नहीं रह जाती। तब उसका किन शब्दों में वर्णन होगा?

'ब्रह्म'—शब्द के अगोचर हैं

इसीलिए ठाकुर ने बार बार कहा, शास्त्रों ने भी लिखा है—**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्चयत्** —अर्थात् ब्रह्म के लक्षण 'अ' लगाकर बताये गये। वे यह नहीं हैं, वह नहीं है, वे इंद्रिय, मन, बुद्धि द्वारा ग्राह्य कोई विषय नहीं हैं। तो फिर मे क्या हैं? वे जो हैं, वह मुँह से कह पाने में असमर्थ होकर, कहा जाता है वे इन समस्त ग्राह्य विषयों के आधार हैं। फिर ग्राह्य विषयों को यदि भ्रम कहा जाय तो वे समस्त भ्रमों के अधिष्ठान हुए। इस प्रकार भ्रम का एक अधिष्ठान स्वीकार किए बिना भ्रम को स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैसे सर्प एक भ्रम है; यह भ्रम कहाँ होता है? रस्सी में। अतः रस्सी अधिष्ठान है, जिस पर सर्प आरोपित हुआ है। उसी प्रकार इस जगत् रूपी भ्रम का अधिष्ठान क्या है? हम एक शब्द कहते हैं—'ब्रह्म', जिसका अर्थ है व्यापक,

बृहत् अर्थात् हम जहाँ जहाँ भ्रम देखते हैं, वहाँ वहाँ उसका अधिष्ठान एक वस्तु है। अर्थात् समस्त भ्रमों में वे व्यापक रूप से विद्यमान हैं —यही उनकी व्यापकता है। पर यह निरपेक्ष व्यापकता नहीं है भ्रम की सापेक्षता मे व्यापकता है। अतः व्यापकता भी उन पर आरोपित है। यह जिस वस्तु पर आरोपित होती है, ज्ञानी उसी वस्तु को जानते हैं। इसका तात्पर्य क्या हुआ? यह कि वे अन्य सब वस्तुओं को आरोपित के रूप में जानते हैं। अधिष्ठान को नये सिरे से जानना नहीं पड़ता। अधिष्ठान के ज्ञान के बिना कभी आरोपित वस्तु का ज्ञान, रस्सी के ज्ञान के बिना कभी सर्प का ज्ञान नहीं होता। जो रस्सी को नहीं देखता, वह सर्प को भी नहीं देखता। भ्रम हम तभी कहते हैं, जब कोई रस्सी को रस्सी के रूप में नहीं देखता, सर्प के रूप में देखता है। ब्रह्म के रूप में नहीं जगत् के रूप देखता है। जैसे सर्प को रस्सी में, वैसे ही यदि जगत् का ब्रह्म में लय किया जाय, तब जो वस्तु रह जाती है, उसे 'ब्रह्म' कहने पर भी वे इस ब्रह्म शब्द के वाचक नहीं हो जाते। अन्य वस्तुओं की सत्ता का अनुभव करके उनके भीतर वे भ्रमरूप से अधिष्ठित हैं, इस कारण उन्हें व्यापक या ब्रह्म कहते हैं। शास्त्रों में 'सच्चिदानंद' आदि ब्रह्मवाचक शब्दों की इसी प्रकार व्याख्या हुई है। अतः 'ब्रह्म' शब्द के अगोचर हैं। इसीलिए ठाकुर कहते हैं, "वे क्या हैं यह मुख से नहीं कहा जा सकता।"

केवल बोध के रूप में उनका बोध होता है

यहाँ एक और भी बात है। यदि वे सर्वव्यक्तित्व से रहित हों; इंद्रिय, मन, बुद्धि के अगोचर हों, तो फिर हम उस वस्तु को स्वीकार ही क्यों करें? उस वस्तु का क्या

किसी ने अनुभव किया है? किसी ने नहीं। अतएव उसके होने का कोई प्रमाण नहीं है। ठाकुर इसका उत्तर देते हैं, "तब केवल बोध के रूप में उनका बोध होता है।" जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है, तब वे उसी शुद्ध बुद्धि के स्वरूप के रूप में प्रतीत होते हैं, विषय के रूप में नहीं। बुद्धि उस समय ब्रह्मस्वरूपता का अनुभव कर लेती है। मलिनता रहने पर बुद्धि उनसे भिन्न हो जाती है, वास्तविक स्वरूप को व्यक्त नहीं कर पाती। जैसे काँच के ऊपर रंग लगाकर देखने से सभी वस्तुएँ रंगीन दिखाई देती हैं, ठीक उसी प्रकार बुद्धि के ऊपर प्रलेप लगाकर हम इस जगत् के घटपटादि तथा अपने 'मैं' तक को रंगीन देखते हैं। परंतु प्रलेप को ठीक से धोकर साफ कर देने पर जो बुद्धि बच रहती है, वह शुद्ध बुद्धि है तथा बोध रूप में बोध होने का अभिप्राय है — उस शुद्ध बुद्धि में वस्तु का अभिन्न रूप से स्वप्रकाश अवस्था में रहना। उसे कोई देखता है —ऐसा नहीं कहा जा सकता। वे स्वयप्रकाश, स्वमहिमा में प्रतिष्ठित रहते हैं। जैसे एक वस्तु किसी अन्य वस्तु के द्वारा प्रकाशित होती है, ब्रह्म उस तरह किसी अन्य वस्तु से प्रकाशित नहीं होते, स्वयं ही स्वयं को प्रकाशित करते हैं। यहाँ पर कतृ कर्म का विरोध नहीं होता—क्योंकि उसका प्रकाश विषयरूप नहीं, निर्विषयरूप है।

यहाँ पर वेदान्त के गूढ़तत्व को ठाकुर सहज भाषा में कहते हैं, "तब केवल बोध रूप में ही उनका बोध होता है।" मन-बुद्धि सीमित है, इसके द्वारा जो पकड़ में आएगा, वह भी सीमित होगा। मछली पकड़ने के जाल से क्या समुद्र को पकड़ा जा सकता है? जाल समुद्र के एक अंश में पड़ा रहता

है, और समुद्र ज्यों का त्यों रह जाता है। ब्रह्म असीम है, अतः उन्हें इस मन-बुद्धि रूपी यंत्र के द्वारा कभी नहीं पकड़ा जा सकता। तो भी मन-बुद्धि की सहायता के बिना उन्हें जानने का प्रयास भी हम भला कैसे करेंगे? तो फिर हम क्या इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि जो हमारी मन-बुद्धि के अतीत हैं, उन्हें जानने का कोई उपाय ही नहीं है?

सर्वभावमय श्रीरामकृष्ण

ठाकुर कहते हैं—ऐसा क्यों है? इसलिए कि मन-बुद्धि उन्हें जानने की चेष्टा करने के साथ साथ शुद्ध होती जा रही है। नमक का पुतला समुद्र को मापने की चेष्टा करते करते धीरे धीरे गलता जा रहा है। इसी तरह धीरे धीरे उसकी वहीं पर चरम शुद्धि हो रही है तब उसका पहले का सीमित अस्तित्व, जिसके कारण वह बाह्य व्यक्ति के रूप में प्रतिभात हो रहा था, जिसके फलस्वरूप वह अपने को ब्रह्म से पृथक अनुभव कर रहा था, वह अस्तित्व क्रमशः लुप्त हो गया। कहाँ गया? वास्तविक स्वरूप में ही लीन हो गया। इस प्रकार सीमित मन जब समस्त सीमाओं का उल्लंघन करके अपने स्वरूप को पा लेता है, तो उसी को 'बोध के रूप में उनका बोध होना' कहते हैं।

ठाकुर इसी बात को एक अन्य प्रकार से भी समझाने का प्रयास करते हैं, "मैंने सुना है, बिल्कुल उत्तर में और दक्षिण में समुद्र हैं। वहाँ इतनी ठण्डक है कि पानी पर बर्फ की चट्टानें बन जाती हैं। जहाज नहीं चलते। वहाँ जाकर अटक जाते हैं।" ठण्ड का अर्थ है भक्ति; पानी क्या है? ब्रह्म समुद्र। भक्ति की ठण्ड से जमकर बर्फ हो गया है। कहीं कहीं पानी जमकर बर्फ हो जाता है। जल में आकार नहीं है, लेकिन बर्फ का आकार है। ठाकुर कहते हैं कि इस बर्फ के

बीच जहाज नहीं चलते, अटक जाते हैं, अर्थात् भक्त के लिए भगवान सगुण और साकार हैं।

डॉ. सरकार इसका उल्टा अर्थ निकालते हुए कहते हैं, "भक्ति के मार्ग में आदमी अटक जाते हैं," अर्थात् उसकी प्रगति नहीं होती। ठाकुर तुरन्त कहते हैं, "हाँ, ऐसा होता तो है परतु इससे हानि नहीं होती। उस सच्चिदानन्द—सागर का पानी ही बर्फ के आकार में जमा हुआ है।" जहाज जिस बर्फ में अटक जाता है, वह बर्फ क्या है? समुद्र ही अपनी एक अवस्था में बर्फ में परिणत हुआ है, अत: अटकने पर भी ब्रह्म को छोड़कर और कहाँ अटकेगा? फिर कहते हैं, "यदि और भी विचार करना चाहो, 'यदि ब्रह्म सत्य है और संसार मिथ्या'—यह विचार चाहो तो इसमें भी हानि नहीं है।" यदि बर्फ में अटक जाना तुम्हें पसंद नहीं है, तो विचार करो। विचार ज्ञान-सूर्य है, उससे बर्फ पिघल जाएगा। पिघल जाने पर भी वह क्या नष्ट हो गया है? नहीं, जो बर्फ के रूप में था वही समुद्र के रूप में रह गया, दोनों एक ही वस्तु तो हैं।

भक्त ने जिस भगवान को सगुण-साकार के रूप में पाया है, ज्ञानी उसी को निर्गुण निराकार कहते हैं। वस्तु एक ही है —दोनों उसे दो रूपों में अनुभव कर रहे हैं। इनमें कौन सा सत्य है? ठाकुर के मतानुसार दोनों ही सत्य हैं। ज्ञानी कहेंगे कि जिसमें परिवर्तन होता है, वह भला सत्य कैसे होगा—तुम्हारा यह दृष्टान्त कि, 'हर परिवर्तनशील वस्तु अनित्य है,' संसार की सीमित वस्तुओं पर ही ठीक बैठता है, परतु जो भगवान, संसार के भीतर सीमित नहीं हैं, उनके लिए क्या यही दृष्टान्त चल सकता है? अत: अपने इस

दृष्टान्त से तुम हमारे भगवान को मिथ्या नहीं कह सकते। मैंने उनका अनुभव किया है, उसी रस में डूबा हुआ हूँ। ठाकुर भक्त और ज्ञानी हर भाव के लोगों के प्रति सहानुभूति संपन्न हैं। खट्टा, मीठा, चरपरा, रसेदार—वे सबका रसास्वादन करते हैं। कहते हैं —उनको साकार देखूँगा, सभी प्रकार से उनका आस्वादन करूँगा। श्रीरामकृष्ण के दृष्टिकोण का यही वैशिष्ट्य है।

*

मानस रोग (१७/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'श्रीरामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके सत्रहवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम सगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स.)

ममता को समाप्त करने की प्रक्रिया सबसे अधिक जटिल बतायी गयी है। एक प्रसंग में दोषों की गणना करते हुए गोस्वामीजी बताते हैं कि कौन सा दोष आ जाने पर व्यक्ति कैसा बन जाता है। जैसे कि मोह हो जाने पर व्यक्ति कैसा हो जाता है? यह मोह क्या करता है? मोह व्यक्ति को अन्धा बना देता है और जब काम आता है, तब वह व्यक्ति को क्या बना देता है?

मोह न अंध कीन्ह केहि केही ।
को जग काम नचाव न जेही ।।७/७०/७

– काम व्यक्ति को नचाता है। काम के प्रभाव से व्यक्ति नाचने लगता है। इसीलिए नारद ने जब यह कहा–"प्रभो, आप मुझे सुन्दर बना दीजिए।" तो प्रभु ने सोचा कि हम इन्हें सुन्दर बना दें कि बन्दर बना दें। प्रभु ने दूरदृष्टि से देख लिया कि अभी सुन्दर बना देंगे तो जीवन भर बन्दर बनकर नाचेगा और अभी बन्दर बना देंगे तो जीवन भर सुन्दर बना रहेगा। तो घण्टे-दो-घण्टे के लिए सुन्दर बनाकर बेचारे को जीवन भर के लिए बन्दर बना दें यह तो उचित

नहीं होगा। जीवन भर के लिए बन्दर बन जाने का अर्थ क्या है? गोस्वामीजी कहते हैं– "को जग काम नचाव न जेही।" संसार में ऐसा कौन है जिसे काम ने न नचाया हो? और व्यंग्य करते हुए वे कलिधर्म के प्रसंग में कहते हैं—

नारि बिबस नर सकल गोसाईं ।
नाचहिं नट मर्कट की नाईं ।।७/९९/१

— सभी मनुष्य नारियों के वश में हैं और मदारी के बन्दर की भाँति स्त्रियों के इशारों पर नाचते हैं। इस तरह अगर नारदजी का विवाह हो जाता तो वे जीवन भर बन्दर की तरह नाचते फिरते। इसके स्थान पर भगवान ने कहा—चलो थोड़ी देर बन्दर बनकर जीवन भर बन्दर की तरह नाचने से बच जाओ। नारदजी ने कहा—महाराज आपने मुझे बन्दर क्यों बनाया? भगवान बोले— अरे भाई, तुम जा रहे थे काम के बन्दर बनने और हमने बना लिया तुम्हें अपना बन्दर। अब तुम्हें नाचना भी हो तो मेरे संकेत पर नाचो और भक्ति का तो लक्षण ही यही है कि भक्त भगवान के संकेत पर नाचे। इस प्रकार मोह व्यक्ति को अन्धा कर देता है और काम व्यक्ति को नचाता है। और इसके बाद वे कहते हैं—

तृस्ना केहि न कीन्ह बौराहा ।
केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा ।। ७/७०/८

—तृष्णा ने किसे मतवाला नहीं बनाया और क्रोध ने किसका हृदय नहीं जलाया? इस प्रकार बड़ी लम्बी सूची दी गई है। अभी तो हम इन सबकी अलग-अलग व्याख्या नहीं कर पाएँगे। इसके बाद है—

ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार ।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्ह न एहि संसार ।।७/७०

– संसार में ऐसा कौन ज्ञानी, तपस्वी, शूरवीर, कवि, विद्वान और गुणी है, जिसकी लोभ ने विडम्बना न की हो। यह लोभ की विडम्बना बड़े-से-बड़े गुणवान व्यक्ति का भी पीछा नहीं छोड़ती। व्यक्ति लोभ की विडम्बना में पड़ा हुआ है। गोस्वामीजी के नाम पर एक बड़ा प्रसिद्ध छन्द है। उनसे पूछा गया कि महाराज, वेदशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति शान्ति पा सकता है या नहीं? तो इसके उत्तर में उन्होंने लोभ पर व्यंग्य करते हुए कहा—

बेद पुरान अनेक पढ़े
बिगरे सब पेट उपायन में ।
निसिभोर मुमत चहुँ ओर फिरत
नित बातन की चतुरायन में।।
दिनरात खुसामद पाजिन की
अपनो परलोक नसायन में ।
तुलसी न कहूँ आराम लख्यो
आराम है राम के पायन में।।

यह है लोभ की विडम्बना और इस प्रसंग में भी आगे चल कर सन्निपात की चर्चा की गई है। पर यह सन्निपात त्रिदोष-जन्य सन्निपात से भिन्न है। यह त्रिगुण जन्य है–

गुन कृत सन्यपात नहिं केही ।
कोउ न मान मद तजेउ निबेही ।।७/७१/१

—सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के फलस्वरूप सन्निपात किसे नहीं हुआ? और मानस-रोग के प्रसग में—

काम बात कफ लोभ अपारा ।
क्रोध पित्त नित छाती जारा ।
प्रीत करहिं जौं तिनिउ भाई ।
उपजइ सन्निपात दुखदाई ।।७/१२१/३०-३१

– यह त्रिदोषजन्य सन्निपात है। इन दोनों सन्निपातों में अन्तर है। बड़ा सूक्ष्म संकेत किया गया है। रावण के जीवन में भी सन्निपात हुआ है और नारद के जीवन में भी। रावण के जीवन में सन्निपात हुआ है काम-क्रोध-लोभ से ग्रस्त होने के कारण और नारद के जीवन में काम-क्रोध-लोभ को जीत लेने के कारण। सन्निपात ऐसे भी होता है—यह एक बड़ी विचित्र विडम्बना है। इसलिए इसको गुणकृत सन्निपात कहकर इसकी व्याख्या की गई है और इसी प्रसंग में गोस्वामीजी ने ममता को बड़े भयावह रूप में देखा और इसके लिए शब्द भी बड़ा भयानक चुना। यह मानसिक दुर्बलताओं के साथ जुड़कर कितना भयंकर परिणाम उत्पन्न करती है, इसकी चर्चा करते हुए वे कहते हैं

ममता केहि कर जस न नसावा ।७/७१/२

– संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके जीवन में ममता आकर उसके यश को नष्ट न कर देती हो, उस पर कलंक न लगा देती हो। यह ममता व्यक्ति के जीवन को कलंकित कर देती है। इस सन्दर्भ में अगर आप मानस के सारे चरित्रों पर, समस्त पात्रों पर विचार करें और मानस ही क्यों, महाभारत के पात्रों को भी लें, तो उन्हें हम और आप अपने वर्तमान जीवन के निकट पायेंगे और हमें स्पष्ट दिखाई देगा कि जब हमारे अन्तर्मन में ममता का उदय होता है, तब हम ऐसे गलत ढंग से पक्षपात करने लगते हैं कि हमारी सारी

विचारशीलता, सारी गुणज्ञता व्यर्थ हो जाती है और इस ममता तथा इसके द्वारा जनित पक्षपात के कारण हम श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति आदरदृष्टि नहीं रख पाते। ममता के इस भयंकरता को अगर हम और अधिक स्पष्ट रूप से देखना चाहें तो रामायण और महाभारत के दो ऐसे पात्र हैं जो बड़े यशस्वी थे, परन्तु ममता के कारण उनका यश नष्ट हो गया। रामायण से कैकेयीजी और महाभारत से गान्धारी के चरित्र को लें। कैकेयीजी के जीवन में क्या समस्या है? गोस्वामीजी ने एक बड़ी विचित्र बात लिखी है। लंका-विजय के पश्चात् जब भगवान श्रीराम अयोध्या लौटे तो वे सबसे पहले कैकेयीजी के भवन में ही गये —

> **प्रभु जानी कैकई लजानी।**
> **प्रथम तासु गृह गए भवानी।**
> **ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा।**
> **पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा ॥७/१०/१-२**

—भगवान शंकर बोले—हे भवानी, प्रभु ने जान लिया कि माता कैकेयी लज्जित हो गयी हैं। इसलिए वे पहले उन्हीं के महल में गये और उन्हें समझा-बुझाकर बहुत सुख दिया। फिर अपने महल को गये।"

रामराज्य बन गया लेकिन गोस्वामीजी गीतावली में एक बड़ी अद्‌भुत बात लिखते हैं कि कैकेयी जब तक जीवित रहीं तब तक भरतजी ने कभी भी उनको माँ कहकर नहीं पुकारा। पढ़ कर बड़ा आश्चर्य होता है। कैकेयीजी ने श्रीराम को पा लिया। उन्होंने रामराज्य में सहयोग दिया। भगवान राम ने कैकेयीजी की प्रशंसा की है। श्री लक्ष्मण तो कैकेयीजी के चरणों में बारम्बार प्रणाम करते हैं, पर श्री

भरत जैसे उदार सहृदय व्यक्ति जीवन भर अपनी माँ को माँ कहकर न पुकारें, यह सुनकर तो बड़ा विचित्र सा लगता है। लेकिन श्री भरत की भूमिका यहाँ पर एक वैद्य की भूमिका है। वे सजग हैं, जानते हैं कि कैकेयी का रोग क्या है और उसे पथ्य क्या देना है। ममता ही कैकेयी का रोग है। ममता दाद के समान है। दाद का गीलेपन से बड़ा सम्बन्ध है। व्यक्ति अगर दाद वाले अंग को बार-बार गीला करेगा, उसे ठीक से सुखाएगा नहीं तो वहाँ फिर से दाद हो जाने की सम्भावना बनी रहेगी। अभिप्राय यह है कि व्यवहार में शुष्कता मिले तो ममता का गीलापन कम होगा और आर्द्रता मिले तो गीलापन बढ़ेगा। यही ममता की प्रकृति है।

कैकेयीजी बड़ी यशश्विनी थीं। सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के रूप में उनकी सुन्दरता की कीर्ति फैली हुई थी। वे जितनी सुन्दर थीं, उतनी ही ओजस्विनी और तेजोमयी थीं। महाराज दशरथ जब युद्ध में जाते थे तब अन्य रानियाँ उनके साथ नहीं जाती थीं, पर कैकेयीजी रणक्षेत्र में भी उनका साथ देने के लिए जाती थीं। पति के प्रति उनके मन में प्रगाढ़ अपनत्व दिखाई देता है। उनकी उदारता भी इतनी प्रसिद्ध थी कि सभी लोग यह कहा करते कि सौतिया डाह सभी में पाया जाता है, किन्तु कैकेयीजी इसकी अपवाद हैं –

कबहुँ न कियहु सवति आरेसू ।
प्रीति प्रतीति जान सबु देसू ॥२/४९/७

इस तरह कैकेयीजी स्वभाव,शील,शौर्य और सौन्दर्य के लिए तो यशश्विनी थीं, पर यह अनर्थ क्यों हुआ? ममता के कारण। अगर उनके अन्तःकरण से यह एक चीज मिट गई होती, तो इतना बड़ा अनर्थ न हुआ होता। वे ममता के

संस्कार को नहीं मिटा पाईं, इस बात को भूल नहीं पाईं कि भरत मेरा बेटा है। श्री राम उन्हें माँ कहकर पुकारते हैं। वे अपनी माँ से भी अधिक सम्मान कैकेयी को देते हैं, पर इतना होते हुए भी कैकेयीजी सोचती हैं कि अभी तो राम मेरे नकली बेटे हैं, अगले जन्म में तो हों तो हों। और अगले जन्म में भी कब होंगे? जब मेरे गर्भ से जन्म लेंगे तभी वे मेरे असली बेटे होंगे। यही कैकेयीजी असली की परिभाषा मानती थीं। उन्होंने मंथरा से यही कहा कि मैं ब्रह्मा से प्रार्थना करती हूँ कि यदि मेरा अगला जन्म हों तो राम मेरे पुत्र हों। पर क्या कैकेयीजी का अगला जन्म हुआ? न उनका अगला जन्म हुआ और न राम उनके पुत्र बने। इसका तात्पर्य क्या हुआ? कैकेयीजी की इतनी पूजा और प्रार्थना का क्या हुआ? वह सब कहाँ गया? उनका फल क्यों नहीं मिला? यहीं पर कैकेयीजी और भगवान श्री राम में मतभेद है। कैकेयीजी कहती हैं कि मेरा अगला जन्म हो और राम मेरे पुत्र बनें। किन्तु भगवान राम कहते हैं कि माँ, यदि तुम्हारा अगला जन्म हो गया, तब तो मेरा ईश्वरत्व किसी काम नहीं आया। मेरे ईश्वरत्व से सबको संसार से मुक्ति मिल जाए और तुम्हें न मिले तो यह तो मेरे लिए कलक की बात होगी और तुम यह जो कहती हो कि अगले जन्म में राम मेरा बेटा बने, तुम्हारा इतना स्नेह और मैं तुम्हें इतने दिनों तक प्रतीक्षा कराऊँ? अगले जन्म में तुम्हारा बेटा बनूँ तो तुम्हारी पूजा की क्या सार्थकता रह जाएगी? मुक्ति न मिले तो मेरी सार्थकता नहीं और तत्काल फल न मिले तो तुम्हारे पूजा की सार्थकता नहीं। भगवान राम यह चाहते हैं कि कैकेयीजी यह समझ लें कि मैं उनका ही पुत्र हूँ। पर कैकेयीजी यह समझ नहीं पा रही हैं।

शरीर को केन्द्र मानकर विचार करने के कारण उन्होंने यह मान लिया है कि राम मेरा बेटा नहीं है। वह जो मुझे माँ कहकर पुकारता है, वह तो एक भाव का नाता है। उसका जन्म मेरे गर्भ से नहीं हुआ है। मेरे गर्भ से भरत का जन्म हुआ है, इसलिए भरत ही मेरा वास्तविक पुत्र है, राम नहीं।

कभी-कभी भावराज्य की सत्यता और मिथ्यात्व की बात उठती है। भक्तों को भावराज्य में जो अनेक अनुभूतियाँ होती है, उसे लोग मन की कल्पना कहते हैं। उनकी मान्यता है कि जो वस्तु सबको आँखों से दिखाई नहीं देता वह वास्तविक नहीं हो सकता। शरीर सत्य है, भाव कल्पित हैं। पर भक्तिशास्त्र की मान्यता है कि शरीर की तो एक सीमा है और उसकी दृष्टिसामर्थ्य भी सीमित है, पर भाव असीम है और असीम के राज्य में तो भाव ही सत्य है। इसलिए भगवान राम ने कैकेयीजी को उसी जन्म में माँ कहकर पुकारा और अन्ततः कैकेयीजी को स्वीकार करना ही पड़ा हाँ,अब मेरा भ्रम दूर हो गया। जिस समय कैकेयीजी ने भगवान राम को बुलाकर कहा कि राम, मैंने तुम्हारे पिता से दो वरदान माँगे हैं, क्या तुम उन वरदानों को पूरा कर सकोगे? भगवान राम ने पूछा — माँ, तुमने क्या वरदान माँगा है? तो उन्होंने कहा — एक तो यह कि मेरा पुत्र भरत राजा हो और दूसरा यह कि तुम चौदह वर्ष के लिए वन जाओ। भगवान श्री राघवेन्द्र ने कैकेयीजी के चरणों को पकड़ लिया और गद्गद कण्ठ से बोले, 'सुनु जननी....' कैकेयीजी को उन्होंने जननी कहा। भगवान श्री राम का अभिप्राय क्या था? मानो वे कहना चाहते हैं कि माँ, अगले जन्म में क्यों? लो, मैं तो अभी से तुम्हारा पुत्र बन गया।

मेरी जननी तुम्हीं हो। कैकेयी कह सकती है कि नहीं नहीं, मेरा पुत्र तो भरत है। भगवान राम ने कहा कि वह तो तब पता चलेगा जब भरत लौटकर आएँगे। तुम्हें जो यह भ्रम हो गया है कि तुम भरत की जननी हो, वह भरत के आने पर दूर हो जाएगा और तुम जान लोगी कि वास्तव में तुम भरत की जननी हो या मेरी; और सचमुच श्री भरत की महानता यही है कि उन्होंने कैकेयीजी की दुर्बलता को दूर करने के लिए एक सद्वैद्य की भूमिका का पूरा निर्वाह किया।

भगवान राम कैकेयीजी को जननी कहकर सावधान करते हैं। उन्होंने उन्हें माँ कह कर नहीं, अपितु जननी कहकर पुकारा। साधारणतया लोग समझते हैं कि माँ और जननी पर्यायवाची शब्द हैं। पर पर्यायवाची शब्दों के भी भावनात्मक अर्थों में भेद रहता है। किसी भी महिला को जिसके प्रति आपके मन में आदरबुद्धि है, आप माँ कहकर पुकार सकते हैं, पर जननी सबको नहीं कह सकते। जननी तो वही है, जिसके गर्भ से हमारा जन्म होता है। भगवान राम ने कैकेयी से कहा कि तुम तो मेरी जननी हो और वे बारबार कह रहे हैं—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी ।
जो पितु मातु बचन अनुरागी ।।
तनय मातु पितु तोषनिहारा ।
दुर्लभ जननि सकल संसारा ।।
मुनिगन मिलनु बिशेषि बन सबहि भाँति हित मोर ।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर ।।२/४१

– आदि में, मध्य में और अन्त में भी वे बारम्बार कहते हैं—माँ, मेरी जननी तुम हो। मेरा जन्म तुम्हारे माध्यम से

हुआ है। मैं तुम्हारा बेटा हूँ। पर कैकेयी तो ममता से ग्रस्त हैं, वे सोचती हैं कि राम इस तरह से बोल कर मुझे भुलावा दे रहे हैं। मुझे फुसलाना चाहते हैं कि किसी तरह से मैं अपने शब्दों को वापस ले लूँ। लेकिन भगवान राम का उद्देश्य क्या था? वे तो कैकेयीजी के भ्रम को दूर करने की ही चेष्टा कर रहे थे। कैकेयी की मान्यता थी कि राम की माँ तो कौशल्या हैं। पर कौशल्या ज्ञानमयी हैं—

ज्ञानशक्तिकौशल्या सुमित्रोपासनात्मिका ।

और ज्ञान की परिभाषा क्या है? ज्ञान अहंता और ममता से शून्य होता है। कौशल्याजी के जीवन में न अहंता है और न ममता। उनके अन्तःकरण में राम और भरत के प्रति भेद-बुद्धि कभी भी उत्पन्न नहीं हुई। जहाँ भेद-बुद्धि नहीं है, वहाँ ममत्व हो ही नहीं सकता। ममत्व का तो अर्थ ही यह है कि जहाँ पर दो में यह भेद किया जाए कि एक मेरा है और दूसरा पराया। अगर अपना और पराया नहीं है तो ममता नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। कौशल्याजी के जीवन में अपना और पराया नहीं है। अतः उनके अन्तःकरण में ममता का भी प्रश्न नहीं है। पर भगवान राम ने कैकेयीजी से कहा —माँ, आज सिद्ध हो गया कि तुम मेरी जननी हो। क्यों? भगवान राम का तात्पर्य यह था कि बालक जब बोलने लगता है, तब तो उसकी भाषा को प्रत्येक व्यक्ति समझ लेता है कि बालक क्या कह रहा है। पर बालक जब बिल्कुल नहीं बोल पाता तब उसकी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति कौन करता है? उस न बोलने वाले बालक की भाषा को तो उसे गर्भ में धारण करनेवाली माँ ही समझती है। वह माँ के गर्भ में रहकर भी माँ के द्वारा

अपनी आवश्यकताओं को पूरा कराता रहा और जन्म के बाद भी जब तक उसके पास भाषा नहीं है तब तक वह माँ पर ही आश्रित है। माँ उसकी प्रत्येक भाषा को समझ लेती है। भगवान राम ने कैकेयीजी से कहा — माँ, तुम मेरी जननी हो, इसका स्पष्ट प्रमाण आज मुझे मिल गया। क्यों? मेरे मन में एक विचार आया, पर डर के मारे मैं बोल नहीं पा रहा था और पूरी अयोध्या में कोई समझ नहीं पाया। केवल तुमने समझा। तुम मेरी जननी न होती तो मेरे मन की बात को कैसे जान लेती? भगवान राम का संकेत यह था कि कल ही जब गुरुजी ने कहा कि तुम्हें अयोध्या का राज्य मिलेगा तो मैं दुखी हो गया और सोचने लगा कि—

बिमल बंस यहु अनुचित एकू।
बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥२/१०/७

— इस निर्मल वंश में यही एक अनुचित बात हो रही है कि और सब भाइयों को छोड़कर राज्याभिषेक एक बड़े का होता है। राज्य तो छोटे को ही मिलना चाहिए, पर मैं गुरुजी के डर से नहीं कह पाया। मेरे राज्याभिषेक का समाचार सुनकर कौशल्या अम्बा प्रसन्न हो गईं। अगर वे मेरी जननी होती तो मेरे मन की बात अवश्य समझ लेती, पर नहीं समझ पाईं। तुम समझ गईं, सचमुच तुम्हीं मेरी जननी हो। मैं तो यही सोच रहा था कि भरत राजा होता तो कितना अच्छा होता। और आज तुमने वरदान माँग लिया कि भरत राजा हो। तुमने मेरे हृदय की भाषा को समझ लिया। माँ, तुम विश्वास करो, तुम मेरी माँ ही नहीं, मेरी जननी भी हो। मैं तुम्हारा बेटा हूँ। कैकेयी ने तो भगवान की बातों पर विश्वास नहीं किया, लेकिन श्री भरत

ने इसे सिद्ध करके दिखा दिया कि सचमुच उनके पुत्र तो श्री राम ही हैं।

श्री भरत यह समझ गये कि कैकेयी के अन्त:करण से ममता का संस्कार नहीं मिट पा रहा है और जब तक उनका यह ममत्व दूर नहीं होगा, तब तक उनका कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने यह निर्णय लिया कि इनके ममत्व को दूर करना ही होगा और उनके इस ममता दद्रु की चिकित्सा उन्होंने अपने शुष्क व्यवहार से ही प्रारम्भ की। कैकेयीजी के प्रति उनके शुष्क व्यवहार का अभिप्राय यही था कि व्यवहार में आर्द्रता कैकेयीजी के लिए कुपथ्य है। उनमें अहंता की समस्या नहीं है। वे सिंहासन अपने लिए नहीं माँगतीं। वे चाहती है कि मेरा बेटा राजा बने। भरत मेरा बेटा है, भरत सिंहासन पर बैठे। यह ममता ही उनकी समस्या है। भरतजी जब ननिहाल से लौट कर आये और अयोध्या का समाचार सुना तो समझ गये कि कैकेयीजी को ममता का दद्रु रोग हो गया है। उन्होंने तुरन्त चिकित्सा प्रारम्भ की, बड़े कठोर शब्दों में जोर से फटकारा, बड़ी तीव्र भर्त्सना की और उनके इस शुष्क और कठोर व्यवहार का बड़ा सुन्दर परिणाम हुआ। कैकेयीजी ने जब भरत की फटकार सुनी तो भरत तो आँखों से ओझल हो गये और मन की आँखों के सामने राम आ गये। याद आने लगा कि वन जाते समय राम ने क्या कहा था। जिसको मैंने वनवास दिया, उसने मुझे क्या कहा और जिसको राज्य देने के लिए मैंने इतना अनर्थ किया, कुयश लिया, कलंक लिया, विधवा बनी, वह क्या कह रहा है? राम ने तो मुझे जननी कहकर पुकारा था, कहीं राम का सम्बोधन ही तो ठीक नहीं था?

सचमुच भरत मेरा बेटा नहीं है। सचमुच मैंने पुत्र को पहचानने में भूल की। अब तो सचमुच संसार में मेरा कोई भी अपना नहीं है। पति से परित्यक्ता, समाज से तिरस्कृता, पुत्र के द्वारा सम्बन्ध की अस्वीकृति। सब जगह से उनके नाते टूटे हुए हैं। एक आशा की डोर बँधी हुई थी भरत से; लेकिन भरतजी ने उसे भी बलपूर्वक तोड़ दिया।

नाता तोड़ देने के बाद भी भरतजी बड़े सावधान थे। उन्होंने जीवन भर कैकेयी को फिर कभी माँ कहकर नहीं पुकारा? वैद्य जानते हैं कि पथ्य-कुपथ्य सबके अलग अलग होते हैं। भरतजी ने देखा कि एक बार तो इस ममता के सस्कार ने इतना बड़ा अनर्थ किया, अब फिर से मैं यदि माँ कहकर पुकारूँगा तो कुपथ्य पाकर रोग फिर से जाग उठेगा। इस रोग का क्या ठिकाना, थोड़ी सी नमी पाकर फिर से उभर सकता है और यदि यह ममता फिर से उभर गई, तो माँ का कल्याण नहीं है। इसलिए निर्णय कर लिया कि माँ के जीवन से ममता को पूरी तरह से मिटा देना होगा। लंका से लौटकर भगवान श्री राम ने भी कैकेयीजी से पूछा – माँ, जाते समय मैंने तुमसे कहा था कि तुम्हारा बेटा मैं हूँ, अब तुम्हें विश्वास हुआ कि नहीं? गोस्वामीजी लिखते हैं–

ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा ।७/१०/१

कैकेयीजी प्रसन्न हो गयीं। उनके मन में अब कोई दुःख नहीं रह गया। कई लोग यह कहते हैं कि कैकेयीजी ने भगवान राम से कहा कि भरत से मुझे माँ कहला दो। जो लोग ऐसा कहते हैं वे कैकेयीजी के चरित्र का बडा अनादर करते हैं, वे तो भगवान श्री राम की भक्ति का भी अनादर

करते हैं जो यह कहते हैं कि कैकेयीजी ने श्रीराम से हठ किया कि भरत एक बार मुझे माँ कहकर पुकार दे और साथ साथ यह भी कह दिया जाता है कि श्री राम ने भरतजी से कह दिया कि तुम कैकेयीजी को माँ कहकर पुकारो और भरतजी ने कह दिया कि मैं नहीं पुकारूँगा। न तो यह भरतजी की मर्यादा है और न यह बात श्री राम के ही अनुरूप है। बल्कि भगवान राम ने तो श्रीभरत से कह दिया कि भरत यह बहुत अच्छा हुआ। क्या? सभी भाइयों में आपस में बँटवारा होता है। इस बँटवारे में एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि अभी तक तो कैकेयीजी के बेटे हम दोनों थे, लेकिन अब उनका नाता तुमसे टूट गया और उन पर पूरा अधिकार केवल मेरा है। अब वे केवल मेरी माँ हैं। मेरे और माँ के बीच अब तुम तीसरे तो नहीं बनोगे? श्री भरत ने कहा – नहीं प्रभो! हम तो यही चाहते हैं कि उनके अन्तःकरण में इसी सत्य का साक्षात्कार होता रहे कि उनके पुत्र तो एकमात्र श्री राम को छोड़कर और कोई नहीं है और सचमुच यही ममत्वशून्य स्थिति है। उस ममता के द्वारा ही कैकेयीजी को कलंक लगा और उनकी ममता को मिटाने के लिए ही श्री भरत ने उनसे इतना शुष्क व्यवहार किया, उनके कलंक का प्रक्षालन किया और अन्त में जब उनके जीवन से ममता मिट गई, तभी उनका कल्याण हुआ।

इसी प्रकार महाभारत की गान्धारी भी कैकेयीजी के समान ही परम पतिव्रता थीं। उन्होंने अपने जीवन में पतिव्रता के रूप में महान कीर्ति पाई। उनका विवाह अन्धे धृतराष्ट्र के साथ हुआ, लेकिन जब उन्होंने देखा कि मेरे

पति के पास दृष्टि नहीं है तो उन्होंने भी अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली। नेत्र से बढ़कर और कौन सी वस्तु होगी? पर स्वयं के नेत्र होते हुए भी उन्होंने अपने नेत्रों पर पट्टी बाँध ली। उनका अभिप्राय यह था कि अगर पतिदेव संसार को नहीं देख पाते तो मैं भी नहीं देखूँगी। दृष्टि होते हुए भी उन्होंने देखना बन्द कर दिया। सारे संसार में उनकी कीर्ति फैल गई। उनके पतिव्रत की महिमा फैल गयी, लेकिन—

ममता केहि कर जस न नसावा ।७/७१/२

ममता ने किसके यश को धूमिल नहीं किया? जब गान्धारी ने दुर्योधन को बुलाया और कहा — पुत्र, मैंने निर्णय किया है कि कुछ समय के लिए मैं अपनी आँखों की पट्टी खोलूँगी। दुर्योधन ने पूछा — क्यों खोलेंगी, क्या उद्देश्य है आपका? गान्धारी ने कहा— मैं पतिव्रता हूँ। आज तक अपनी दृष्टि से मैंने संसार को नहीं देखा। ज्योंही पट्टी खोलकर मैं तुम्हें देखूँगी, तुम्हारा सारा शरीर वज्र का हो जाएगा और तब भीम तुम्हें नहीं मार सकेगा। तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी। फिर देखें, पाण्डव तुम्हें कैसे जीत पाते हैं? दुर्योधन तो सुनकर फूला नहीं समाया, प्रसन्न हो गया। यह समाचार जब गुप्तचरों के द्वारा पाण्डवों के पास पहुँचा, तो वे निराश हो गये। वे पातिव्रत की शक्ति से परिचित थे। सोचने लगे कि अब तो लड़ाई में हार अवश्यम्भावी है। भीम भी निराश हो गये और अर्जुन भी। युधिष्ठिर भी घबरा गये। एकमात्र श्री कृष्ण ही थे, जो सुनकर मुस्कराने लगे। श्री कृष्ण को मुस्कुराते हुए देखकर पाण्डव बोले - महाराज, हम लोग तो इतने घबराये हुए हैं और आप मुस्करा रहे हैं? क्या आपने नहीं सुना कि गान्धारी जैसी पतिव्रता अपनी

आँखों की पट्टी हटा रही है। श्री कृष्ण बोले – पट्टी हटा नहीं रही है, चढ़ा रही है। अभी तक पट्टी केवल कपड़े की थी और अब उसने ममता की पट्टी चढ़ाने का निर्णय लिया है। यह कपड़े की पट्टी तो हट जायेगी पर इस ममता की पट्टी से वह पूरी तरह अन्धी हो जाएगी। इसलिए तुम लोग निश्चिन्त रहो। वस्तुतः न देखने की स्थिति में तो वह अब आई है। भगवान श्री कृष्ण का अभिप्राय यह था कि गान्धारी जानती है कि श्री कृष्ण ईश्वर हैं और स्वयं ईश्वर अगर किसी का विनाश करना चाहता हो तो क्या उसे कोई बचा सकता हैं? गान्धारी उसे अमर बनाने की चेष्टा कर रही है, जो मरणधर्मा है। उसकी यह धारणा कितनी हास्यास्पद है! जो मरणधर्मा है, उसके साथ अपने आपको मिटाया तो जा सकता है पर उसे कोई अमर कैसे बना देगा? और जब स्वयं ईश्वर ही जिसे मारने पर तुला हुआ

हो तो ऐसी स्थिति में भला उसकी रक्षा कौन कर सकता है? लेकिन गान्धारी की यह ममता कि दुर्योधन मेरा बेटा है, उसे नहीं मरना चाहिए, मैं उसे नहीं मरने दूँगी। और दुर्योधन? क्या वह कपड़े उतार कर गया? उसे तो दूसरों का कपड़ा उतारना ही आता है, अपना कपड़ा उतारना उसे नहीं आता। कपड़े उतारकर चला तो बीच में नारदजी मिल गये। नारदजी ने पूछा—अरे अरे, यह क्या, कहाँ जा रहे हो? लज्जा के मारे विचारा दुर्योधन बैठ गया। तब नारदजी ने कहा कि मेरे सामने जब तुम्हें इस तरह से लज्जा आ रही है तो गान्धारी के सामने कैसा लगेगा? इसलिए ऐसा करो, कमर में एक छोटा से कपड़ा लपेट लो। दुर्योधन को नारदजी की सलाह अच्छी लगी। कमर में वस्त्र

लपेटकर वह गान्धारी के सामने पहुँच गया। पतिव्रता गान्धारी ने अपनी आँखों की पट्टी हटाई, उसकी दृष्टि दुर्योधन पर पड़ी और उसका सारा शरीर वज्र का हो गया, केवल कमर कच्ची रह गयी क्योंकि कमर पर पट्टी बँधी थी। बड़ा विचित्र व्यंग्य है। इससे बढकर विडम्बना क्या हो सकती है! पतिव्रता की दृष्टि ने सारे शरीर को तो वज्र का बना दिया, पर एक कपड़े की पट्टी को भेद कर वह दृष्टि उसके कमर को वज्र नहीं बना पायी। क्यों? वह दुर्योधन की कमर पर मात्र कपड़ा नहीं था। वह तो ईश्वर का संकल्प था। जो नारद ने कहा था वह कपड़े के रूप में भगवान का ही संकल्प था। जब भगवान सुने तो हँसकर उन्होंने यही कहा कि देखो, गान्धारी ममता में कितनी अन्धी हो रही है। वह समझ रही थी कि मैं अपने पुत्र को अमर बनाने जा रही हूँ। अमर तो नहीं बना पाई, बल्कि उसने तो मारने का ही उपाय बता दिया। पहले तो सोचना पड़ता कि दुर्योधन को कहाँ से मारा जाये, पर अब सब को पता चल गया कि वह मरेगा तो कमर पर मारने से ही मरेगा। उसकी कमर ही कमजोर है। कैसा दुर्भाग्य है उसका!

इसका अभिप्राय यह है कि इतिहास में बड़े-से-बड़े ऐसे भी पात्र हैं, जिनके जीवन में यशस्विता होते हुए भी जहाँ ममतायुक्त पक्षपात आया, जहाँ अन्धत्व आया और वहाँ उन पर कलक भी अवश्य लगा। रामचरितमानस के विविध सन्दर्भों में, कहीं पर ममता को कलक देने वाली, कहीं पर बन्धन के रूप में, कहीं पर अँधेरी रात के रूप में दिखाकर मानो यह बताने की चेष्टा की गई कि भले ही उसे रोग न

समझकर उसकी उपेक्षा करें, लेकिन सच्चे अर्थों में ममता हमारे जीवन को अन्धकार में, भ्रम में डाल देती है। और हमारे जीवन में जब तक स्नेह की आर्द्रता बनी रहेगी, तब तक यह पक्षपात हमारे लिए और समाज के लिए संकट उत्पन्न करती रहेगी।

*

सच्चा धर्म

धर्म का रहस्य आचरण से जाना जा सकता है, व्यर्थ के मतवादों से नहीं। सच्चा बनना तथा बर्ताव करना, में सारा धर्म निहित है। "जो केवल 'प्रभु-प्रभु की रट लगाता है, वह नहीं, बल्कि जो परमपिता की इच्छानुसार कार्य करता है," वही धार्मिक है।

—स्वामी विवेकानन्द

धन्य, ऐ तू स्वप्न सुन्दर

स्वामी विवेकानन्द

('Thou Blessed Dream)-कविता का
स्वामी आत्मानन्दकृत पद्यानुवाद)

हो परिस्थिति बुरी-अच्छी—
भले मुखड़ा हर्ष अपना
फेरता हो, उमड़ते हों
भले सागर गहन दुःख के—
पर यहाँ हर एक का है
कर्म अपना अलग, नटवत
हँसे-रोये—जिसे जैसा;
पहनंनी तो पड़ेगी ही
सभी को पगड़ी स्वयं की;
सघन घन औ, दृश्य उज्ज्वल
नित्य आ-जा रहे क्रम से।

स्वप्न तू, ऐ धन्य सपने!
बिछा धुँधले स्वावरण को
निकट औ' अति दूर तक में,
पड़ीं गहरी पंक्तियाँ जो
तू उन्हें हल्की बना दे,
रुक्षता औ' असमता पर
स्निग्धता ला तू बिछा दे।

किन्तु तुझमें नहीं जादू!
सुखद तेरा स्पर्श करता
प्राण-नव संचार मरु में,
कड़कड़ाती वज्र-ध्वनी भी
बदल जानी मधुर रव में,
मृत्यु का वह नृत्य ताण्डव
ले सुखद विश्रान्ति आया।

*

ज्ञानदायिनी माँ सारदा

स्वामी सत्यरूपानन्द

दुर्गा-सप्तशती में माँ दुर्गा इस निखिल ब्रह्माण्ड में किस किस रूप में विराजमान हैं, इसका बड़ा रोचक तथा प्रेरक वर्णन है। एक स्थान पर कहा गया है, "या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमो नम;।—जो देवी सभी प्राणियों में शक्ति रूप में विद्यमान हैं, उन्हें प्रणाम!

सृष्टि का आरम्भ ही तो शक्ति के आलोड़न से होता है। शक्ति के इस आलोड़न का शमित होना ही प्रलय है! मृत्यु है!! जीवन का दूसरा नाम ही तो शक्ति है।

इस शक्ति का आदि स्रोत एक ही है। जब यह शक्ति अचल निष्क्रिय स्थिति में होती है, तब उसे ब्रह्म कहा जाता है। यह अचल और निष्क्रिय ब्रह्म अनिर्वचनीय तथा ज्ञान, ज्ञेय, और ज्ञाता की परिधि से परे है। इस रूप में यह अज्ञेय है।

किन्तु क्या यह सर्वथा सर्वकालीन अज्ञेय है? यदि ऐसा हो तो वह हमारे किस काम का? नहीं, वह सर्वथा सर्वकालीन अज्ञेय नहीं हैं। अज्ञेय और अनिर्वचनीय ब्रह्म ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की परिधि में तब मानों सिमट जाता है, जब वह सक्रिय शक्ति के रूप में लीला करता है। तब वह ज्ञान और अनुभूति का विषय हो जाता है। सक्रिय शक्ति रूपी ब्रह्म ही हमारी आराधना और उपासना का विषय है। वही अभय, वरदायी है। उसी की आराधना, उपासना द्वारा उसी की कृपा से हमारा जीवन कृतकृत्य और धन्य होता है।

इस शक्ति की कृपा का प्रथम स्फुरण तब होता है जब वह हमारे मन और इन्द्रिय की गोचर होकर इस धराधाम में अवतरित होती है। इस अवतरण के पीछे हेतु क्या है? करुणा जीव के प्रति अहैतुकी कृपा!!

उसकी करुणा और कृपा को पहचानने की क्षमता भी तो जीव में होनी चाहिए। शक्ति जब ऐश्वर्य और वैभव के साथ अवतरित होती है तब उसके प्रति जीव के मन में 'भय' मिश्रित श्रद्धा उत्पन्न होती है। वह इस शक्ति के सामने 'नत' तो होता है पर अपनत्व बोध नहीं कर पाता। सखा कृष्ण के साथ कितना अपनत्व है! कितना ममत्व है! किन्तु वही अर्जुन उनके विराट् तथा ऐश्वर्यशाली रूप में कम्पित गात्र खड़ा है।

इस ईश्वरीय शक्ति से अपनत्व बोधकर उसके अंक में जाकर ही तो जीव शिव होता है। ऐश्वर्य की चकाचौंध में भला कभी अपनत्व होता है? अंक में जाया जाता है? इसीलिए तो करुणामयी इस बार ग्राम्य बाला के रूप में जयरामवटी में रामचन्द्र मुखर्जी के घर आईं। और आईं भी प्रथम सन्तान-सबसे बड़ी कन्या होकर। जन्म से ही मानो मातृत्व की मूर्ति। छोटे-छोटे पाँच भाइयों को आमोदर नदी में नहलाना। उनको खिलाना पिलाना, एक शब्द में माँ के समान उनका पालन पोषण करना। तभी तो जयरामबाटी ग्राम की 'सरू' आज लाखो देशी-विदेशी भक्तों की माँ' और 'होली मदर' होकर उनके हृदय में विराज कर सब प्रकार से उनका मंगल कर रही हैं।

यह सब इसलिए सम्भव हुआ कि ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी, साक्षात् लक्ष्मी होकर भी वे अत्यन्त कृपापूर्वक हम

सबको अपनत्व बोध कराने के लिये अपने अंक में ले लेने के लिये दरिद्रता में रहीं। बाह्यिक ऐश्वर्य और वैभव की छाया तक नहीं उनमें!

अभी स्वयं किशोरी नववधु होकर दक्षिणेश्वर आईं। आते ही भक्तों की माँ हो गईं। ठाकुर श्रीरामकृष्ण ने बोध करा दिया कि जो भवतारिणी मंदिर के गर्भ गृह में विराजकर भक्तों की सेवा-पूजा ग्रहण कर रही हैं वहीं तो 'नहबत' में रहकर भक्तों के लिये भोजन बना रही हैं। जगज्जननी के दो रूप भवतारिणी और सारदामणि।

माँ तुम्हारा भवतारिणी रूप कितने लोग देख पाते है? कोई एक रामप्रसाद कोई एक रामकृष्ण और शायद कोई एक नरेन्द्र। इसीलिये तो माँ करुणामयी तुम इस बार आई सारदामणि के रूप में हम सब की अपनी माँ होकर। "अजमद मेरा वैसा ही पुत्र है जैसा शरत्"—ब्रह्मज्ञानी शरत् महाराज और अपराधी अजमद के प्रति समान प्रेम, समान करुणा यह तुम्हें छोड़कर और कौन दिखा सकता था माँ! तुम्हारी करुणा, तुम्हारे प्रेम में कोई दूसरा नहीं कोई पराया नहीं। सब अपने हैं। तभी तो जगत् कल्याण के लिये लीला सवरण के केवल पाँच दिन पहले अन्नपूर्णा की माँ को निमित्त बनाकर समस्त आध्यात्मिक साधना के सागर को गागर में उड़ेल कर सुख-शान्ति का महामत्र तुमने दिया, "यदि शान्ति चाहती हो बेटी तो किसी के दोष मत देखना दोष केवल अपना ही देखना। संसार को अपनाना सीखो। कोई पराया नहीं बेटी, संसार तुम्हारा ही है।"

यही तो सूत्र है जीवन साधना का। यही उपाय है व्यक्ति के कल्याण का।

पराया होना, दूसरा होना, यही तो सारी अशान्ति के

मूल में है। जब तक हमारी दृष्टि में 'दूसरा' रहेगा, हम दुःख और अशान्ति से बच नहीं सकते। 'दूसरे' के होते ही भेद शुरू होता है। भेद स्वार्थ को जन्म देता है। फिर 'अपनी सुविधा,' 'अपना सुख' देखना पड़ता है। उसकी व्यवस्था करनी पड़ती है। 'अपनी व्यवस्था' करने में 'दूसरों की उपेक्षा' न चाहकर भी हो जाती हैं। और उपेक्षा हो जाने पर बदले में न चाहकर भी हमें वह घृणा के ब्याज के साथ वापस मिलती है। और यह घृणायुक्त उपेक्षा हमारी सुख-सुविधा के आयोजन में हमारे न चाहने पर भी विष का बूँद बनकर टपक पड़ती है तथा हमारे समस्त व्यक्तित्व को कड़वाहट से भर देती है। और यह सब होता है 'पराया' देखने पर 'दूसरा' देखने पर। इसीलिए तो तुमने मंत्र दिया माँ, कोई 'पराया' नहीं, संसार तुम्हारा है। इसे 'अपना' बनाना सीखो।

यही सीखना तो जीवन की साधना है। तभी तो साधकशिरोमणी अवतारवरिष्ठ ठाकुर के कहा, "जब तक जीऊँ तब तक सीखूँ।" सीखने का यह क्रम मुक्तिपर्यन्त चलाना होगा।

ज्ञान की अधिष्ठात्री सरस्वती! तुम इस बार आई हो सिखाने के लिये सार-दा होकर। जीवन भर सबको अहैतुक कृपापूर्वक सार ही देती रही। इस निस्सार संसार में रहकर भी 'सार' कैसे पाया जाय, सारे जीवन तुमने यही तो दिखाया और सिखाया माँ। सुपुत्री होने का 'सार' क्या हैं? कोई तुमसे सीखे। सहधर्मिणी और गृहिणी का 'सार' तुम दक्षिणेश्वर में दिखा गई। नववधुत्व का 'सार' तुम कामारपुकुर की लीला में दिखा गई। मातृत्व के सार की तो तुम मूर्तरूप ही रही। संघ माता के रूप में करुणा विगलित

हो अनधिकारी सन्तानों को शरण में ले उन्हें अधिकारी बना, गुरु तथा गुरु कृपा का 'सार' तुम्हीं दिखा गई। अनासक्ति वैराग्य, विवेक और संन्यास जीवन का 'सार' संसार तुमसे सीखे। जननी! संसार का 'सार' ही तो तुम थीं।

इसीलिए माँ यदि तुमको अपना बना लें तो फिर हमारे लिये कोई पराया नहीं रह जायेगा, नहीं रह पायेगा क्योंकि तुम्हीं तो संसार का 'सार' हो। तुमने ही तो विश्व-ब्रह्माण्ड पसारा है। तुम्हीं तो इसमें अनुस्यूत और ओतप्रोत हो। कोई इसे तुम्हारी माया कहता है, तो कोई लीला। किन्तु हो तो माँ तुम्हीं। तुम्हारे अतिरिक्त तो सभी 'रिक्त' हैं खाली हैं। जो 'है' अस्ति वह तो तुम्हीं हो। तुम्हीं तो भासमान हो रही हो। भाति और प्रेमस्वरूपिणी तुम्हीं तो एकमात्र 'प्रिय' हो। तुमने विमुख होना ही तो पराया होना है। माँ! तुमसे विमुख होने पर ही तो जगत् पराया लगता है और 'पराया' लगते ही दोष दिखते हैं दूसरों के। अपनी आँखों में समाया मूसल भी दीख पड़ता पर दूसरों की आँखों का तिनका भी मूसल लगता है। इसीलिए तो तुमने चेतावनी दी—"मनुष्य पहले अपने मन को दूषित करता है तब दूसरों के दोष देख पाता है।" दोष देखने के दोष से दूषित मन लिये हम जलते रहते हैं। इस दाह से बचने का उपाय भी तो तुमने बता दिया। माँ करुणामयी, कैसी तुम्हारी करुणा! 'विष से विष कटता है।' दोष देखना ही है तो अपने दोष देखो। कैसे अद्‌भुत रसायन! दोष देखने की दुष्टवृत्ति जब तक दूसरों के पीछे लगी रही तब तक इसने मन में दावानल ज़ला रखा था। इसकी दाह से दिन रात अशान्ति! किन्तु ज्यों ही इसे अपने पीछे लगाया, अपना

दोष देखने लगा कि अद्भुत परिवर्तन। उसी क्षण से हृदय में धधकने वाला यह दावानल शान्त होने लगता है। दाह मिटने लगती हैं और आश्चर्य! अपने दोष देखते देखते हमारा मन निर्दोष और निर्मल हो उठता है। कैसा अद्भुत रसायन तुमने दिया है, माँ!

"मैं सत् की भी माँ हूँ, असत् की भी माँ, हूँ। मेरे बच्चे यदि धूल और कीचड़ में सन कर आयें तो धूल झाड़कर मुझे ही तो उन्हें गोद में लेना पड़ेगा।"

जगज्जनी! इससे बड़ी कृपा, ऐसी अपार करुणा मनुष्य क्या, विश्व-ब्रह्माण्ड के इतिहास में कहीं खोजे मिलेगी! न भूतो न भविष्यति!

तुम तो हमारी ही माँ हो! तुमसे भला कभी पराया हुआ जा सकता है? तुमसे विमुख होकर हम कब तक रह सकतें हैं! तुम्हारे बिना तो हमारा अस्तित्व ही नहीं रह सकता, माँ।

किन्तु हमने अपने आपको असत् की, अज्ञान की धूल में इतना सान लिया है कि हम तुम्हें भूल बैठे हैं। तुमसे विमुख हो गये हैं और इसीलिए तो संसार-नरक की ज्वाला में जल रहे हैं। दुःख और अशान्ति से छटपटा रहे हैं। इससे छूटने का क्या कोई उपाय नहीं है, माँ? साधन-चतुष्टय, विवेक वैराग्य, ज्ञान, कठोर तप आदि की बातें तो बहुत सुनी हैं। पर माँ, उनकी ओर देखते ही लगता है, 'बौने होकर चाँद को पकड़ने की चाह'। क्या हम चाँद को पकड़ पायेंगे? यह सोचकर ही मन बैठ जाता है। निराशा घेर लेती है। लगता है ज्ञान वैराग्य के अधिकारियों की तो जाति ही अलग होती है।

तब क्या हमारा कुछ न होगा? क्या हम ससार पंक में ही पड़े रहेंगे? माँ, हम तो तुम्हारी अति सामान्य सन्तान हैं, इसीलिए तो हमारे मन में ऐसा सन्देह आता है। किन्तु ममतामयी तुम तो सर्वज्ञा त्रिकालदर्शिनी हो, इसीलिए तो इतना ठोक बजाकर इतनी परीक्षा लेकर तब चरणाश्रय देने वाले ठाकुर से भी हम सब निरीह अनधिकारी संतानों के लिये यह वचन ले ही लिया—"तुम्हारे (ठाकुर) पास जो आयेगा, उसका यह अन्तिम जन्म होगा। और उसे तुम्हें दर्शन देना होगा।" और ठाकुर को यह मानना पड़ा कि तुम्हारी प्रत्येक सन्तान को फिर चाहे अन्त समय में ही, क्यों न हो, वे दर्शन देंगे तथा हाथ पकड़कर अपने धाम में ले जायेंगे। जननी, तुम्हारी करुणा ने ही तो अवतारवरिष्ठ से यह करा लिया।

हम सबके लिये पथ कितना सहज कर दिया, माँ! तुमने कहा, "मन में सोचना हमारा और कोई हो न हो, एक माँ अवश्य है।" भवतारिणी, क्या इससे भी सहज कोई पथ हो सकता है? कल्पना स्वयं उस पथ की कल्पना नहीं कर सकती।

साठ-पैंसठ वर्ष इस धरा-धाम में लीला कर तुम हमारी स्थूल आँखों से ओझल हो गई। तब क्या तुम अदृश्य और अज्ञेय हो गई? निष्क्रिय, निर्गुण, निरपेक्ष उदासीन! नहीं नहीं माँ, ऐसा नहीं हो सकता। फिर तुम आई ही क्यों थीं?

स्वयं ठाकुर ने ही तो हमें तुम्हारे आने का प्रयोजन बताया है—"वह सारदा है, सरस्वती है, ज्ञान देने आई है। वह ज्ञानदायिनी है। महा बुद्धिमती। वह क्या कोई ऐसी-वैसी है। वह मेरी शक्ति है।"

ज्ञानदान! यही तो तुम्हारे आने का प्रयोजन है। यही युग की अनिवार्य आवश्यकता है। विश्व ब्रह्माण्ड के रहस्यों को भेदनेवाला मनुष्य अपने सम्बन्ध में कितना 'अज्ञ' है! बाह्य प्रकृति को जीतने के नाम पर अपने ही बनाये बन्धनों से वह किस प्रकार बँध आया है; अपने ही बुने जाल में वह कैसा फँस गया है। अपनी उत्पन्न की हुई शक्ति के द्वारा अपना ही विनाश करने पर तुला हुआ है। मानव जाति को इस आत्मघात से तुम्हारे दिये गये ज्ञान के अतिरिक्त और कोई नहीं बचा सकता है।

ज्ञान के क्षेत्र में भी तुम ज्ञान का 'सार' दे गई। तुमने कहा; "भगवान इसी मनुष्य शरीर के भीतर हैं। मनुष्य उनको न जानने के कारण ही भटकता हुआ मर रहा है। भगवान ही सत्य हैं और सब मिथ्या।"

यह वह ज्ञान है जो आधुनिक मानव को सामूहिक आत्मघात से बचा सकता है। आधुनिक मानव की कठिनाई यह है कि वह मिथ्या को ही सत्य समझे बैठा है। भूल से वह यह समझ बैठा है कि उसके दुःख का कारण उसका पड़ोसी है; 'दूसरों' के कारण ही वह दुःखी है, दरिद्र है, पीड़ित है। और उसका दूसरा समाधान उसने ढूँढ़ा—पड़ोसी का सिर फोड़ देना। दूसरों को मिटा देना। तभी सुखी और सुरक्षित रहा जा सकता है। अतः अपनी सुरक्षा के लिये तमन्चे से शुरू कर एटम तथा हाइट्रोजन बम तक बना रखा है। नाखून काटने की नहरनी से जिस मनुष्य को अनायास ही मारा जा सकता है उसी मनुष्य से अपनी रक्षा करने के लिये उसने एटम और हाइट्रोजन बम बनाया है। और यह आदमी हर दूसरे दिन अपने पड़ोसी को धमकी देता है। याद रखना मेरे पास एटम और हाइट्रोजन बम है, तेरे सिर पर फोड़ दूँगा।

पर वह एक क्षण के लिये भी नहीं सोचता कि भला आदमी जिसके सिर पर तू एटम बम फोड़ना चाहता है उसका सिर तेरे सिर से दूर नहीं है। तेरा एटम बम पड़ोसी के साथ साथ तेरा सिर भी तो फोड़ देगा। दूसरों को मिटाने के साथ तू भी तो मिट जायेगा।

आधुनिक मानव को यहाँ रुककर एक बात समझनी होगी। यह ठीक है कि आज मनुष्य दु:खी दरिद्र और पीड़ित है। किन्तु उसकी पीड़ा और दारिद्र्य का कारण उसका 'पड़ोसी' या 'दूसरा' नहीं हैं। कारण है उसका अपना यह 'अज्ञान' कि उसने 'असत्' को 'सत्' समझ लिया है। उसे यह जानना और अनुभव करना होगा कि भगवान ही सत् हैं और सब असत्। भगवान को न जानने के कारण ही वह दु:ख कष्ट पा रहा है तथा भटकता फिर रहा है। अत: यह बात ठीक ठीक समझ लेनी होगी कि भगवान को जाने बिना दु:ख-कष्ट से मुक्ति नहीं मिल सकती है। इसीलिए जैसे भी हो भगवान को जानना होगा। उससे घनिष्ट परिचय एवं सम्बन्ध जोड़ना होगा।

उसे खोजने कहाँ जायँ? माँ ने दिखा दिया है कि भगवान इसी शरीर के भीतर विराजमान हैं। अत: पहली बात जो स्मरण रखनी है वह यह कि यह शरीर भगवान का मन्दिर है, भोग विलास का रंगमहल नहीं। इसलिये सजग सावधान रहकर सतत यह चेष्टा करनी होगी जिससे यह मन्दिर किसी तरह अशुद्ध और अपवित्र न होने पायें।

भगवान भीतर हैं। हमारा अत:करण इस देह-मन्दिर का गर्भगृह है। वहीं वे विराजमान हैं। इसलिए हमें खूब सावधान होना होगा कि जिससे भगवान का यह सिंहासन अशुद्ध न हो जाय, दिन-रात सावधान रहकर इसकी

पवित्रता की रक्षा करनी होगी। शुद्ध अंतःकरण में ही भगवान से हमारी भेंट होगी, परिचय होगा और हम उनके हो जायेंगे। एक बार 'उनका' हो जाने पर अपना कुछ नहीं रहता। फिर मैं नहीं तू हो जाता है।

जब तक यह न हो तब तक क्या करें? साधना। शरीर को साधना होगा, मन को साधना होगा, बुद्धि को साधना होगा। यह साधना कैसे करनी होगी वह भी तो माँ दिखा गई। जो कर्त्तव्य हमारे हिस्से में आया है उसका ठीक ठीक पालन करना। सतत कर्मठता! आलस्य की छाया तक नहीं! और वह भी निष्काम।

निष्काम कर्म करते हुए भी एक कामना मन में सतत जगाये रखनी होगी—भगवान के प्रति प्रेम की कामना। तभी तो माँ ने कहा है, "सबके प्रति कर्त्तव्य का पालन तो करना, किन्तु, प्रेम करना केवल भगवान से।"

और जिसके प्रति हमारे मन में प्रेम होता है हम उसके लिये, क्या नहीं करते! अपने प्रियतम को सुखी करने की कितनी ललक हमारे मन में होती है! उनके सुख में ही हमारा सुख है। सभी कुछ 'प्रभुप्रीत्यर्थ' ही तो करना है। नर रूप में विराजमान इस प्रभु की सेवा के लिये ही तो यह आयोजन, ये प्रतिष्ठान, यह सारदा पीठ, यह विद्या मन्दिर, तथा और भी न जाने क्या क्या बना है?

माँ, प्रभु की पूजा के ये नव विधान भी तो तुम्हीं दे गई। जब सन्देह उठा तब असन्दिग्ध रूप से तुमने कहा, "नरेन जो कर रहा है, ठीक है। यह 'उनकी' ही इच्छा है, उनका ही काम है।"

ये सभी प्रतिष्ठान हमारे पूजास्थल हैं। इसका प्रत्येक

घटक हमारा उपास्य है। मनुष्य के अंतःकरण में विराजमान भगवान को जानने में उसकी सहायता करना हमारी सेवा है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक होना हमारा धर्म है। इस सेवा धर्म में अपना तन-मन-धन सब कुछ सतत समर्पित करना हमारी उपासना है। व्यक्ति को इस उपासना का अवसर देना यही इस प्रतिष्ठान का प्रयोजन है। ज्ञानदायिनी हम सबके अन्तःकरण में ज्ञान रूप में उद्‌भासित हों यही उनके चरणारविन्दों में सतत प्रार्थना है।

*

श्री चैतन्य महाप्रभु (१८)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक रचना मानी जाती है। उसी का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है है। —सं.)

अष्टम अध्याय

जननी-जन्मभूमि तथा तीर्थ दर्शन

महाराज प्रतापरुद्र, पुरी के विशिष्ट नागरिक, मन्दिर के अधिकारीगण, पुजारी-सेवक आदि सभी चैतन्यदेव की सेवा तथा सुख के प्रति ध्यान रखते थे। उनके अनन्य आश्रित सार्वभौम तथा राय रामानन्द भी इस ओर तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे कि उन्हें कोई असुविधा न हो और वे निश्चिन्ततापूर्वक पुरी में रहकर उस तीर्थ को महिमान्वित करते रहें। चैतन्यदेव प्रतिदिन रात बीत जाने पर शय्या त्याग करते और प्रातःकृत्यादि से निपट कर मन्दिर में चले जाते। श्री जगन्नाथजी का दर्शन, प्रणाम, स्तव-प्रार्थना आदि करने के बाद कुछ काल मन्दिर में बिताकर वे हरिदास की कुटिया में जाते और उनके साथ वार्तालाप करते। फिर समुद्र-स्नान करके वे भिक्षा को निकलते। किसी-किसी दिन भक्तगण उनकी कुटिया में ही भिक्षा ले आते और कभी कभी किसी अनुगत भक्त के विशेष आग्रह पर वे उसके घर चले जाते। भिक्षा ग्रहण के बाद थोड़ी देर विश्राम करके वे श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों का श्रवण करते। भक्तों के साथ भगवच्चर्चा और भजन-कीर्तन में अपराह्न का समय बीत

जाता। सन्ध्या के पूर्व वे थोड़ी देर समुद्र तट के उद्यान अथवा मन्दिरों आदि में भ्रमण कर श्री जगन्नाथ की आरती देखकर अपनी कुटिया[१] में लौटते। रात में उनका आहार तथा निद्रा अत्यल्प होता; रात का अधिकांश भाग भगवद्भजन और ध्यान-धारणा में ही बीतता।

गौड़ीय भक्त जितने भी दिन पुरी में रहे, उनके विशेष आग्रह पर चैतन्यदेव उन्हीं के पास भिक्षा ग्रहण करते थे; तब पुरीवासियों के लिए वह सौभाग्य दुर्लभ था। उन लोगों के स्वदेश लौट जाने के बाद सार्वभौम ने बड़े आग्रहपूर्वक चैतन्यदेव से अनुरोध किया कि अब से वे सर्वदा उन्हीं के घर भिक्षा स्वीकार करें। संन्यासी के लिए प्रतिदिन एक ही घर में भिक्षा करना उचित नहीं, यह कहकर उन्होंने सार्वभौम की प्रार्थना अस्वीकार कर दी। काफी अनुनय-विनय के पश्चात् प्रति मास पाँच दिन उनके घर भिक्षा लेना निश्चित हुआ। प्रतिदिन उनके घर भिक्षा ग्रहण करने का प्रस्ताव अस्वीकार होने पर भी सार्वभौम की सन्यासी को नित्य भिक्षा देने की आकाक्षा अपूर्ण नहीं रही। चैतन्यदेव के साथ और भी दस सन्यासी निवास करते थे, सबमें बँटवारा करके पूरे महीने की व्यवस्था निश्चित कर ली गयी। चैतन्यदेव को पाँच दिन, परमानन्दजी को पाँच दिन, दामोदर स्वरूप को चार दिन और बाकी आठ सन्यासीगण को सोलह दिन मिले।

इस व्यवस्था से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों

---

१ चैतन्यदेव का साधन-कुटीर 'गम्भीरा' पुरी के वर्तमान राधाकान्त मठ (काशी मिश्र के भवन) से सलग्न उद्यान में स्थित है। वहाँ पर अब भी उनके द्वारा व्यवहृत खडाऊ और कमण्डलु सुरक्षित रखा है।

आश्रम की स्थापना न करने पर भी संन्यासीगण के जीवन निर्वाह में कोई असुविधा नहीं होती थी; सज्जन गृही भक्तगण ही उनकी उदरपूर्ति का भार स्वीकार कर लेते थे। चैतन्यदेव जैसे स्वयं भिक्षान्न पर निर्वाह करते थे उनके संगी संन्यासी भी वैसा ही करते थे। न्यासिचूड़ामणि महाप्रभु ने दस संन्यासी लोगों की मण्डली के साथ निवास करते हुए भी अति कठोर त्याग-भाव का आलम्बन करते हुए 'नित्य भिक्षा देह रक्षा' की थी। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन संन्यासियों के साथ निवास करके और भिक्षान्न के द्वारा जीवन धारण करके वे संन्यास के सच्चे आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ कर गये हैं। उदरपूर्ति की सुविधा के लिए उन्होंने कभी किसी भी प्रकार की व्यवस्था आदि नहीं की।

सार्वभौम की आकांक्षा के अनुसार चैतन्यदेव नियत तिथि को 'नारायणो हरि' कहकर भिक्षा के लिए उनके द्वार पर जा खड़े हुए। भक्त दम्पति के नेत्रों में आनन्द के अश्रु छलछला आये। सार्वभौम ने विनयपूर्वक प्रणाम करके संन्यासी का स्वागत किया और तदुपरान्त अतीव श्रद्धाभक्ति के साथ उन्हें घर के अन्दर ले जाकर एक सुन्दर आसन पर बैठाया। उनकी सहधर्मिणी ने विविध प्रकार के व्यंजन तैयार किये थे, सार्वभौम उन सबको सजाकर ले आये और हाथ जोड़कर संन्यासी से भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की। अति उत्कृष्ट प्रकार के विविध व्यंजन और उनका परिमाण भी अत्यधिक देखकर चैतन्यदेव के मन में संकोच हुआ। उन्होंने लज्जित होकर सार्वभौम से वह सब हटा लेने और अल्प परिमाण में साधारण सा कुछ देने को कहा। परन्तु भक्त ब्राह्मण भला कहाँ मानने वाले थे ? वे अति

कातरतापूर्वक हाथ जोड़कर महाप्रभु से उसे ग्रहण करने के लिए बारम्बार प्रार्थना करने लगे। दम्पति का आन्तरिक आग्रह देखकर, भक्त के मन में कहीं कष्ट न हो यह सोचकर आखिरकार संन्यासी सुसज्जित भोजनपात्र के सम्मुख जा बैठे और उन लोगों की आकांक्षानुसार सभी व्यंजनों में से थोड़ा थोड़ा ग्रहण किया।

उसी समय सार्वभौम का दामाद — उनकी इकलौती पुत्री का पति — अमोघ भट्टाचार्य घर में आ पहुँचा। चैतन्यदेव पर अमोघ की बिल्कुल भी श्रद्धा न थी, बल्कि वह अपने सास-ससुर की अतिशय भक्तिप्रीति के कारण मन ही मन संन्यासी के प्रति ईर्ष्या का भाव रखता था। सुसज्जित व्यजनराशि देखकर अमोघ कह उठा, "अरे बाप रे ? सन्यासी इतना खाता है ?" इस पर मानो आकाश ही फट पड़ा। जामाता के इस वाक्य ने सास-ससुर के मर्मस्थल पर वज्र से भी कठोर आघात पहुँचाया। यह सोचकर कि हमने प्राण से भी प्रिय प्रभु को घर में लाकर ऐसा अपमान किया, लज्जा, क्षोभ और दुःख से दोनों का हृदय विदीर्ण हो गया। सार्वभौम हाथ में लाठी लेकर अमोघ के पीछे दौड़े, ब्राह्मणी अपना सिर पीटते हुए हाय हाय करते हुए बोली, "ऐसा जमाई रहने की अपेक्षा षाठी[२] का विधवा होना ही अच्छा है।" अमोघ दौड़कर भाग निकला। सार्वभौम आँखों में आँसू भरे अत्यन्त कातरतापूर्वक अपने दामाद के अपराध के लिए क्षमायाचना करने लगे। चैतन्यदेव यह कहकर कि 'अमोघ बच्चा है, उसकी बात पर ध्यान नहीं देना चाहिए' हँसने लगे और भक्त दम्पति को आनन्दित करने के हेतु उस दिन उन्होंने उन दोनों की अभिलाषानुसार भिक्षा ग्रहण की।

२ षाठी सार्वभौम की पुत्री का नाम था।

इसके दूसरे दिन उनके पास समाचार आया कि अमोघ विसूचिका रोग से ग्रस्त होकर कहीं अन्यत्र पड़ा है, हालत बिगड़ रही है और उसकी सेवा-सुश्रूषा करनेवाला वहाँ कोई भी नहीं है। सार्वभौम को तो अमोघ के नाम से चिढ़ हो गयी थी, अतः उनके द्वारा देखभाल का प्रश्न ही नहीं उठता था। अत्यन्त व्यग्रतापूर्वक चैतन्यदेव अमोघ के निकट जा पहुँचे और मृदु तथा मधुर वाणी में उसे सान्त्वना देते हुए अपने हाथ से उसकी सेवा करने लगे। सार्वभौम को भी बुला भेजा गया और प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन न कर पाकर वे आ पहुँचे। चैतन्यदेव ने सार्वभौम को बहुत कह-सुनकर अबोध बालक का अपराध मार्जन कराया और उसकी चिकित्सा व सेवा-सुश्रूषा की सुव्यवस्था कर अपनी कुटिया में लौटे। उनकी कृपा से अमोघ शीघ्र ही स्वस्थ हो उठा और बाद में उसकी मति-गति में इतना परिवर्तन आया कि वह चैतन्यदेव का विशेष अनुगत भक्त हो गया।

इसी प्रकार भक्तों के संग परमानन्द में और भी कुछ बिताने के बाद चैतन्यदेव ने काशी, प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन अदि उत्तर भारत के तीर्थों का दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की। इस पर भक्तगण बड़े उद्विग्न हुए। रामानन्द और सार्वभौम ने शीतकाल तक ठहर जाने को कहा। शीतकाल बीत जाने पर वे डोलयात्रा दर्शनकरने का अनुरोध करने लगे। डोल के पश्चात् पुनः दोनों ने अत्यन्त विनयपूर्वक उनसे प्रार्थना की, "रथयात्रा तक प्रतीक्षा कीजिए। उस समय गौड़ीय भक्तगण आयेंगे। उनके साथ हम सबको परम आनन्द की प्राप्ति होगी।" क्रमशः रथयात्रा भी आ पहुँची। समाचार आया कि गौड़ीय भक्तगण पुरी आने तैयारी में लगे हैं।

यथासमय अद्वैताचार्य और नित्यानन्द प्रभु के साथ गौडीय भक्तों ने हरिनाम-संकीर्तन करते हुए पुरी की ओर प्रस्थान किया। इस बार अनेक गृही भक्तों का परिवार भी साथ आ रहा था। वे लोग चैतन्यदेव को भिक्षा देने के लिए बंगाल की अनेक अच्छी चीजें संग्रह करके सग ला रहे थे। मार्ग सुपरिचित था और व्यय, चुंगी आदि का भार शिवानन्द सेन पर था। समृद्ध जमींदार परम आनन्द और अतीव दक्षता के साथ प्रति वर्ष सुचारु रूप से इस गुरुभार को वहन किया करते थे। चैतन्यदेव की भिक्षा के लिए सग्रहित वस्तुओं को सँभालकर ले जाने के लिए उपयुक्त व्यवस्थापक तथा अलग बोझ ढोनेवाला नियुक्त होते थे। कहीं ये चीजें रास्ते में खराब न हो जायँ इसीलिए वे लोग उन्हें अच्छी तरह बाँधकर, पेटी पर अपने हाथ से मुहर लगा देते थे। भक्तगण यथासमय पुरी पहुँचकर चैतन्यदेव से मिले। पिछले वर्ष के समान ही इस बार भी सबने मिलकर गुण्डिचा-भवन की सफाई की और रथयात्रा के दौरान नृत्य-गीत व महासंकीर्तन किया। सबने झूलन, जनमाष्टमी, विजयादशमी, दीपावली, रासयात्रा आदि अवसरों पर भी मिलकर आनन्द मनाया।

देखते ही देखते चातुर्मास बीत गया। अब चैतन्यदेव निन्यानन्द को गले लगाकर अपने नेत्रों के जल से उन्हें भिगोते हुए बोले, "प्रभुपाद, आपको इतना कष्ट करके प्रति वर्ष इतने दूर आने की आवश्यकता नहीं। मेरी प्रार्थना है कि आप गौडदेश में ही रहकर आचाण्डाल सबके बीच हरिनाम का वितरण करें।" अतीव अनिच्छा के बावजूद चैतन्यदेव की आन्तरिक आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए 'दयाल निताई'

पुनः बंगाल लौट गये।

कुलीनग्राम के भक्त सत्यराज खान ने इस बार भी प्रश्न किया, "प्रभो, हमें अपने कर्तव्य-साधन के बारे में निर्देश दीजिए।" इसके उत्तर में चैतन्यदेव ने कहा, "वैष्णवों की सेवा और नामसंकीर्तन करो। इन दोनों से तुम्हें शीघ्र ही श्रीकृष्ण के चरणों की प्राप्ति हो जाएगी।" उन्होंने पूछा, "वैष्णव कौन है ? उसकी क्या पहचान है ?" प्रभु उनके अन्तर का मर्म समझकर हँसे और कहने लगे, "जिसके मुख में निरन्तर कृष्णनाम बना रहता है, वही श्रेष्ठ वैष्णव है, उसी के चरणों की आराधना करो।" अगले वर्ष उन्होंने पुनः यही प्रश्न किया, जिसके उत्तर में चैतन्यदेव ने वैष्णवगण का तारतम्य बताते हुए कहा, "जिसके दर्शन मात्र से ही मुख में कृष्णनाम उच्चरित होने लगता हो, उसी को तुम वैष्णवों में प्रधान समझो।" इस प्रकार प्रभु ने क्रम से उच्च, उच्चतर और उच्चतम भक्त के लक्षणों का वर्णन करके सत्यराज को उनका पवित्र संग लाभ करने को उत्साहित किया।

गौड़ के सभी भक्त देश लौट गये। एकमात्र दामोदर के अन्तरंग मित्र और चैतन्यदेव के परम भक्त पुण्डरीक विद्यानिधि ही उनके साथ नहीं लौटे। कुछ काल चैतन्यदेव के साथ निवास करने के लिए वे पुरी में ही रह गये। भक्ताग्रणी विद्यानिधि पर जैसे भगवान की अपार कृपा थी वैसे ही लक्ष्मी और सरस्वती की भी कृपादृष्टि थी। विद्या-बुद्धि और धन-ऐश्वर्य के बाह्य आवरण से आवृत्त उनके भक्तिभाव की बात अत्यल्प लोग ही समझ पाते थे। नवद्वीप के भक्तगण भी उन्हें विषयासक्त पण्डित के रूप में ही जानते थे। परन्तु चैतन्यदेव की सूक्ष्म दृष्टि के समक्ष

उनके अन्तर का भाव प्रकट हो उठा और इस कारण दोनों के बीच प्रगाढ़ प्रीति का संचार हुआ। घर में रहते समय एक दिन चैतन्यदेव भक्तों के साथ उनका विशेष परिचय कराने हेतु उन लोगों को साथ लेकर विद्यानिधि के घर गये थे। विद्यानिधि ने परम प्रीति के साथ उन लोगों का स्वागत किया और अपने सुसज्जित बैठकखाने में उन्हें आसीन कराया। उनका ऐश्वर्य-आडम्बर और वेशभूषा देखकर भक्तों के मन में आया कि प्रभु हमें इस घोर संसारी के घर क्यों लाये हैं? चैतन्यदेव अतीव उल्लासपूर्वक विद्यानिधि के साथ वार्तालाप करने लगे। भगवच्च्चर्चा आरम्भ होते ही विद्यानिधि में भावान्तर उपस्थित हुआ, उनका मन अन्तर्मुखी हो गया और उनके अन्तर में प्रच्छन्न भावभक्ति का स्रोत मानो फूटकर क्रमशः उनके मुख-नेत्रों से अभिव्यक्त होने लगा। इस प्रकार प्रेमभक्ति के प्रसंग में अति उच्च तत्त्व पर चर्चा आरम्भ हो जाने के बाद चैतन्यदेव के संकेत पर सुकण्ठ मुकुन्द ने एक भजन गाना आरम्भ किया। सुमधुर सगीत सुनकर विद्यानिधि का भावसमुद्र तरंगायित होने लगा और वे स्वयं को सँभाल नहीं सके। उनकी देह में अश्रु, कम्प, पुलक इत्यादि सात्त्विक विकारों के लक्षण प्रकट हो उठे। भावविह्वल होकर वे धरती पर लोटने लगे और उनकी मूल्यवान वेशभूषा धूल-धुसरित हो उठी। तब उनकी वह प्रेममूर्ति देखकर भक्तगण विस्मित हो उठे और तभी से नवद्वीप के भक्तगण उनके प्रति खूब श्रद्धा का भाव रखते थे।

चैतन्यदेव के बाल्यसखा प्राणप्रिय गदाधर पण्डित भी इसी प्रकार विद्यानिधि का परिचय पाकर उनकी ओर आकृष्ट हुए थे और आग्रह करके उनके दीक्षा ग्रहण की थी।

बाद में जब चैतन्यदेव ने संन्यास लेकर नवद्वीप त्याग दिया तब गदाधर के कोमल हृदय को विशेष आघात पहुँचा था और क्रमशः नास्तिक भावापन्न होकर उन्होंने इष्टमन्त्र तक छोड़ दिया था। परन्तु समर्पित-प्राण गदाधर के अन्तर में यह भाव अधिक काल नहीं टिका। धीरे-धीरे मन शान्त हो जाने पर उन्होंने अभिमान छोड़ दिया, पुनः भगवान के शरणागत हुए और पुरी में आकर क्षेत्रसंन्यास[३] लेकर चैतन्यदेव के साथ निवास करने लगे। अब गदाधर के अन्तर में इष्ट मंत्र त्याग देने का असह्य पश्चाताप होने लगा। अन्य कोई उपाय न देखकर वे चैतन्यदेव से पुनः दीक्षा प्राप्त करने के लिए हठ करने लगे। इतने गर्हित कार्य की बात सुनकर महाप्रभु मर्माहत हुए और अपने प्राणों से भी प्रिय गदाधर की तीव्र भर्त्सना की। फिर परामर्श देते हुए उन्होंने कहा कि वे अन्यत्र कहीं दीक्षा लेने का प्रयास न करके पुनः विद्यानिधि के ही शरनागत हों। इस वर्ष विद्यानिधि के पुरी-निवास के फलस्वरूप गदाधर की अभिलाषा पूर्ण हुई और चैतन्यदेव की स्वीकृति से पुनः विद्यानिधि के पास से इष्टमंत्र पाकर वे अतीव आनन्दित हुए।

अन्तरंग रामानन्द राय के अनुरोध पर चैतन्यदेव इस वर्ष भी पुरी से बाहर न जा सके। यात्रा का प्रसंग उठाते ही रामानन्द तरह तरह की उज्र-आपत्तियाँ उठाते और अनुनय विनयपूर्वक बाधा खड़ी कर देते। इसी प्रकार क्रमशः हेमन्त, शीत और वसन्त ऋतु बीत गये। ग्रीष्म ऋतु के अन्त में रथयात्रा के पूर्व बंगाल के भक्तगण पुनः आ मिले। पिछले

३. जिस तीर्थ में यह संकल्प लिया जाता है, उसी में आजीवन निवास करने को क्षेत्रसंन्यास कहते हैं।

वर्षों के समान ही इस वर्ष भी भक्तों ने परम आनन्दपूर्वक साथ मिलकर गुण्डिचा-मार्जन, रथोत्सव, नृत्यगीत और कीर्तनादि किया। परन्तु इस बार चैतन्यदेव ने गौड़ीय भक्तों को चातुर्मास के दौरान पुरी में ठहरने से मना किया और रथयात्रा के पश्चात् ही उन्हें देश भेज दिया। विदा करते समय वे उन लोगों से बोले, "उत्तर-पश्चिम के तीर्थों का दर्शन करने हेतु शीघ्र ही यात्रा पर जाने की मेरी अभिलाषा है। मार्ग में बगाल होकर जाते समय आप लोगों से मिलने की आशा करता हूँ।"

गौड़ीय भक्तों को विदा करने के बाद जब चैतन्यदेव ने अपना संकल्प व्यक्त किया तो सार्वभौम और रामानन्द ने उनसे वर्षा बीत जाने पर यात्रा करने का अनुरोध किया। परन्तु इस बार वे उन लोगों का अनुरोध मानने को तैयार नहीं हुए और विशेष आग्रहपूर्वक बोले, "आपका अनुरोध मैं पिछले दो वर्षों से मानता आ रहा हूँ, परन्तु अब मेरा मन अत्यन्त व्यग्र हो उठा है। बंगाल में मेरे दो दयामय आश्रय हैं — एक तो मेरी माता और दूसरी गंगा; मार्ग में मैं उनका दर्शन करूँगा। आप दोनों प्रसन्नतापूर्वक मुझे अनुमति दें।" रामानन्द और सार्वभौम ने अब और बाधक होना उचित नहीं समझा, परन्तु वर्षाकाल में पथ चलना कष्टकर होगा, अतः किसी प्रकार वर्षा भर प्रतीक्षा करने को कहा।

शारदीय नवरात्रि उत्सव का दर्शन करके विजयादशमी के दिन मातृभक्त वीर सन्तान ने माँ के लिए महाप्रसाद, माला, चन्दन आदि साथ लिया और श्री जगन्नाथ को प्रणाम करके, उनका आर्शीवाद पाथेय के रूप में लेकर 'जननी व जाह्नवी' के दर्शनार्थ यात्रा पर निकल पड़े। श्रीमत्

परमानन्दजी, दामोदर, सार्वभौम, वक्रेश्वर, मुकुन्द, हरिदास, काशीश्वर आदि उनके अन्तरंग संगी भी उनके साथ साथ कटक तक गये। राजवैभव में पले रामानन्द राय को इतना पैदल चलने का अभ्यास न था, अतः वे पालकी में बैठकर पीछे पीछे चले।

प्रिय संगियों के साथ पूर्वदृष्ट तीर्थों और प्रसिद्ध स्थानों का दर्शन तथा विश्राम करते हुए वे लोग क्रमशः कटक आ पहुँचे। नगर के बाहर एक मनोहर उद्यान में मौलसिरी-वृक्ष

के नीचे संन्यासी-यात्रियों का डेरा पड़ा। एक भक्तिमान ब्राह्मण ने परम प्रीति के साथ उन्हें भिक्षा प्रदान की । इधर रामानन्द ने राजभवन में जाकर राजा को चैतन्यदेव के आगमन का संवाद दिया, जिससे राजा के प्राण आनन्द से उत्फुल्ल हो उठे। चैतन्यदेव भिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उसी निर्जन उद्यान में मौससिरी-वृक्ष के नीचे आराम कर रहे थे, कि उसी समय राजा प्रतापरुद्र ने अपने सम्बन्धियों-मित्रों के साथ आकर उनकी चरणवन्दना की। भगवद्भक्त राजा को आया देख महाप्रभु ने प्रसन्नचित्त से उनका यथायोग्य सम्मान के साथ स्वागत करके बैठने को कहा। परस्पर कुशल-मंगल पूछने के पश्चात् काफी समय तक भगवच्चर्चा होती रही। राजा के आग्रह के बावजूद चैतन्यदेव और किसी आसन पर बैठने को सहमत नहीं हुए और उस वृक्ष के नीचे ही बैठे रहे। उनके शुभाशीर्वाद से परम आनन्द पाकर राजा ने विदा ली, परन्तु उनके बंगाल जाने की बात सुनकर राजा के मन में चिन्ता का उदय हुआ। वे यात्रापथ को सुगम बनाने के लिए उद्योग करने लगे। उनके राज्य के भीतर जहाँ-जहाँ चैतन्यदेव के जाने की

बात थी, वहाँ-वहाँ अधिकारियों को राजा ने नये-नये मकान बनवाने तथा खाने-रहने की सुव्यवस्था करने का आदेश भेजा और यह भी कहला भेजा कि 'प्रभु को वहाँ ठहराने के बाद स्वयं रात दिन हाथ में बेत लेकर वे लोग उनकी सेवा में लगे रहें। तत्पश्चात् राजा हरिचन्दन और मंगराज नामक अपने दो मंत्रियों को चैतन्यदेव के साथ जाने का आदेश देते हुए बोले, "एक नयी नौका लाकर नदी[४] के तट पर तैयार रखना। जब प्रभु स्नान करके नदी के उस पार चले जाँय तो उस स्थान को महातीर्थ के रूप में चिह्नित करते हुए वहाँ पर एक स्तम्भ गाड़ देना मैं नित्य वहीं पर स्नान करूँगा और वहीं प्राणत्याग करने की भी मेरी आकांक्षा है।"

राजा की इच्छानुसार सम्पूर्ण नगर को तोरण, नववस्त्र, माला, पताका आदि से सुसज्जित किया गया। चैतन्यदेव जब अपने संगियों को लिए कटक से बाहर जाने लगे तो रास्ते के दोनों ओर दल के दल लोग पंक्तियों में उनका दर्शन पाने को खड़े थे। यहाँ तक कि राजपरिवार की महिलाएँ भी तम्बू से ढँके हाथियों के ऊपर राजपथ में आ खड़ी हुईं। पथ पर व्यवस्था बनाये रखने के लिए राजा की इच्छानुसार रामानन्द, मंगराज और हरिचन्दन–ये तीनों भी उनके साथ साथ चलने लगे। कटक से भक्तों को पुरी की ओर विदा कर दिया गया। मुकुन्द, गोविन्द, वक्रेश्वर आदि कुछ लोगों को उनके साथ-साथ बंगाल तक जाने की अनुमति मिली।

चैतन्यदेव के प्रिय संगी गदाधर क्षेत्रसंन्यास लेकर पुरी में ही निवास कर रहे थे। क्षेत्रसंन्यास के नियमानुसार जिस

४. कटक के समीप से होकर बहनेवाली महानदी।

स्थान में रहने का संकल्प लिया जाता है, वहाँ से अन्यत्र कहीं जाना निषिद्ध है। चैतन्यदेव के बंगाल की ओर प्रस्थान करने पर गदाधर का चित्त व्यग्र हो उठा और उन्होंने भी साथ जाने की इच्छा व्यक्त की। परन्तु विधि को त्यागकर गदाधर को अपने साथ चलने की चैतन्यदेव ने बिल्कुल भी अनुमति नहीं दी। गदाधर के मन में बड़ा खेद हुआ और अन्ततः वे उन लोगों के साथ न जाकर, अकेले ही उनसे थोड़ी दूरी बनाकर चलते हुए कटक तक आ पहुँचे। संवाद मिलते ही चैतन्यदेव ने गदाधर की तलाश कराकर अपने पास बुलाया और स्नेह-यत्न के द्वारा उन्हें मुग्ध कर लिया। तदुपरान्त महाप्रभु ने उन्हें काफी समझा-बुझाकर सार्वभौम के साथ फिर पुरी भेज दिया।

*

युगावतार श्रीरामकृष्णदेव

रामइकबालसिंह 'राकेश'
गरुडनीड़, पो.भदोई, जि. मुजफ्फरपुर (बिहार)

स्मरण तुम्हारा कर देता मन को आन्दोलित,
अन्तर्जग में चिदानन्दमय शब्द तरंगित।
नहीं तुम्हारे कर्म वासना से अनुबन्धित,
परे त्रिगुण से, चिन्मयता के स्वर से छन्दित।

तुम ईश्वर के पूर्ण प्रकाशरूप में कीर्तित,
इस भूतल पर गुरुपद के तुम योग्य प्रतिष्ठित।
ध्यायमान तुम तत्व ज्ञान के मंगलकारक,
निज स्वरूप में महिमामण्डित कल्पनियामक।

पृथिवी के दोनों खण्डों को आत्मोदय से,
अनुप्राणित करते तुम कालातीत सत्य से।
हुए अवतरित फिर तुममें अभिनव नरतन-धर,
राम-कृष्ण इस परिवर्तनमय मर्त्यपटल पर।

स्वतःप्रकाशित नाम तुम्हारा नित्यबोधमय,
सर्वोत्तम साधन पाने का माया पर जय।
एक साथ मिट्टी-मुद्रा को तुमने लेकर।
किया विसर्जित गंगा के प्रवाह में दुर्धर।

अंहज्ञान को कर विराट में लीन अन्तरित,
अनुसन्धेय अर्थ को तुमने किया अनावृत।
देखा आत्मा में आत्मा को परमगुह्यतम,
खोल चित्रपट चिद्‌विद्या का भव्य, दिव्यतम।

सर्वदेश तुममें, तुम सर्वदेश के भीतर,
दिव्यज्ञान के दीप्तिमान तुम भुवनविभाकर।
लोकातीत, लोकहित में रत, परमानन्दित,
वराभयकरा जगदम्बा के चिन्तन में नित।

गुरुओं का गुरु बना तुम्हारा अपना ही मन,
हुआ तुम्हारे स्वर में नूतन ज्ञानप्रणोदन।
आत्मामृत का आस्वादन करने के कारण,
घोर त्रिविधदुखतम का तुमने किया निवारण।

मृत्युतिमिर में अमृतज्योति के तुम अभिव्यंजन,
महाभावसागर के चिन्मय लहरान्दोलन।
कामरागबन्धन को तोड़ सिंह-विक्रम से,
मुक्त हुए तुम दुर्निवार संशय-भ्रम तम से।

मायामल से रहित, पूजितों से भी पूजित,
नित्य प्रबुद्ध, प्रजागर, सेतु सत्य के विस्तृत।
अमृत अंश से आप्यायित रहते तुम प्रमुदित,
निज स्वरूप को एकरूप से करते नियमित।

तुम अध्यात्म तत्वदर्शन के सत्य सनातन,
मनोराज्य में लाने वाले युग-परिवर्तन।
भक्ति-ज्ञान दोनों का तुममें हुआ उन्नयन,
चिदाकाश में आत्मदृष्टि की लौ अखण्ड बन।

चमक उठा तुममें अरूप का रूप चिरन्तन,
पहन अर्थ परिधान छन्द का दिव्य विलक्षण।
प्रकट हुए तुमसे गुण जैसे गिरिगह्वर से,
हंस निकलते गगनमेखला को भर स्वर से।

मननवान तुम ऊर्ध्वभूमिका में समवस्थित,
अद्‌भुत दिव्योन्माद-दशा में योगविभावित।
रहा सत्ययुग का न स्मरण तुममें निवास कर,
सूक्ष्म धर्म को, सगुणभाव सीमा से भी पर।

निर्मल चरित तुम्हारा प्रकृति विकृति से विरहित,
तुमसे लोक प्रकाशित, शक्ति-समुद्र तरंगित।
आत्मक्रीड़ तुम परमहंस तव पद मर्त्यामृत,
तेजोराशि स्वरूप मंगलों से संयोजित।

परमसत्य की ओर तुम्हारी दृष्टि नियोजित,
करती आत्मा की गौरव-वाणी को मुखरित।
धर्मभूमि भारत अपनी अन्तर्वेदी पर,
पावन हुआ तुम्हारे श्रीपद को धारण कर।

माँ के सान्निध्य में (२८)

स्वामी ऋतानन्द

(प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक श्री माँ सारदा देवी के शिष्य थे। मूल बँगला ग्रंथ 'श्रीश्रीमायेर कथा' के द्वितीय भाग से इसका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं।—सं.)

माँ जयरामवाटी में हैं। आज माँ के घर जगद्धात्री पूजा हैं, इसलिए माँ अत्यन्त व्यस्त हैं। माँ के मुँह में केवल एक ही बात है, "कैसे करके माँ की पूजा होगी।" आज सबेरे ही वे ठाकुर की नित्य पूजा करने बैठी हैं। ठाकुर को फल, मिष्ठान आदि का बहुत सा नैवेद्य दिया गया है। भोग देने के समय माँ, ठाकुर को लक्ष्य करके कह रही हैं, "देखो, आज माँ की पूजा है, जल्दी-जल्दी खा लो, मुझे वहाँ जाना होगा।" धीरे- धीरे और भी कुछ कह रही हैं। ऐसा लगा मानो वे किसी व्यक्ति से बातें कर रही हों। पूजा पूरी करके वे जगद्धात्री मण्डप में जाकर बैठीं और पूजा समाप्त होने तक दीन भाव से प्रतिमा की ओर एकटक दृष्टि से निहारती रहीं।

मैं कोयलापाड़ा से सामान खरीद कर तथा माँ के लिए ठाकुर-पूजा के फूल लेकर जयरामवाटी पहुँचा। मेरे पहुँचते ही माँ ने कहा, "मैं सोच रही थी कि तुम अभी आते ही होंगे, उसके बाद ही मैं स्नान करने जाऊँगी।" माँ ने सामान

आदि रखकर मुझे मुरमुरा खाने को दिया। उसके बाद एक छोटा सा गमछा पहनकर तेल लगाते लगाते वे हम लोगों के सबध में बातें करने लगीं। अकस्मात वे बोलीं, "मैं माँ हूँ, इसमें लज्जित होने की क्या बात है?" उसके बाद वे स्नान करके पूजा के लिए गयीं।

एक दिन मैंने सोचा कि माँ से पूछूँगा—साधन भजन किस प्रकार करना चाहिए। शाम को माँ बरामदे में बैठकर माला जप रही थीं। पास जाने पर मैं वह सब भूल गया। प्रश्न करने की इच्छा ही नहीं हुई। माँ से केवल बोला, "माँ, आप मेरा भार ले लीजिए"—यह कहकर मैं रो उठा। माँ ने तब आश्वासन देते हुए कहा, "रोओ मत, तुम्हारा भार तो मैंने बहुत दिनों से ले रखा है। ठाकुर ने तुम्हारा भार बहुत दिनों से लिया है। चिन्ता की क्या बात है?"

एक दिन मैंने स्वप्न में देखा कि माँ मुझसे कह रही हैं—"तुम ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करो।" पूज्यपाद हरि महाराज से इसकी चर्चा करने पर उन्होंने कहा, "यह बात तुम माँ से जाकर कहो।" कुछ दिन बाद कोयलपाड़ा में जाकर मैंने माँ से वह बात कही। माँ सुनकर थोड़ा हँसी और बोली, "कल जब मैं पूजा करूँगी उस समय तुम एक नया वस्त्र लेकर आना। पर किसी को खबर न हो।" दूसरे दिन जब मैं माँ के पास गया तो वे पूजा समाप्त कर नाश्ता करके बरामदे में बैठीं मंजन कर रही थीं। मुझे देखते ही जीभ काटकर बोली,

"देखो, पूजा हो गयी है, मैं तो भूल ही गई। जो हो, मैं मुँह धो लेती हूँ, तुम जाकर ठाकुरघर में बैठो।" माँ ठाकुरघर में आकर बोलीं, "दरवाजा बंद कर दो। वे लोग (लड़कियाँ) वहाँ हैं।" पात्र से जल लेकर उन्होंने मेरे शरीर पर छींटा दिया। फिर मेरी नाभि, छाती और सिर पर हाथ रखकर उन्होंने कुछ किया। नये कपड़ों को लेते हुए उन्होंने कहा, "वह देखो, ठाकुर हैं। उनसे बोलो—'आज मैंने तुम्हें अपना सब भार दिया।" बाद में वह वस्त्र मेरे हाथ में देकर बोलीं, "आज मैंने तुम्हारे प्राणों के भीतर संन्यास दिया।" उस समय मेरी अवस्था मानो दिशाहारा व्यक्ति के समान हो गयी थी। यहाँ तक कि माँ को प्रणाम करने की बात भी भूल गया। यह भाव बहुत दिनों तक बना रहा।

माँ राधू को लेकर कोयलपाड़ा में थीं। उस समय राधू आसन्नप्रसवा थी। उसकी अवस्था उस समय पागल के समान हो गयी थी। माँ को सब समय यही चिन्ता कि राधू किस प्रकार इस विपदा से निर्विघ्नतापूर्वक मुक्ति पाए। इसलिए माँ कितने ही देवी-देवताओं से कातर भाव से प्रार्थना कर रही थीं।

उसी समय एक दिन माँ ने कहा, "देखो 'हनुमान चरित' में लिखा है न कि अच्छा-बुरा जो होने का हो, उससे सब मालूम हो जाता है। अतः राधू का क्या होगा, उससे मालूम करके देखो न।" मैंने वह पुस्तक लाकर देखी। उसमें चौकोर खाने बने हुए थे। उसके किसी एक खाने पर ऊँगली

रखनी होती थी। माँ ने एक स्थान पर ऊँगली रखी। उसके अनुसार मैंने माँ को फलाफल पढ़कर सुनाया। उसमें लिखा था कि फल अच्छा होगा। उत्तम फल की बात सुन माँ बड़ी प्रसन्न हुईं और बोलीं, "तब तो राधू अवश्य ही अच्छी हो जायेगी। जब उन्होंने (हनुमान ने) ऐसा कहा है तब अवश्य ही अच्छी होगी।"

एक बार कामकाज को लेकर कोयलपाड़ा मठ के अध्यक्ष और सेवकों के बीच मतभेद पैदा हुआ। माँ तब जयरामवाटी में थीं। हम लोग उनके लिए प्रायः कोयलपाड़ा से सामानों की खरीददारी कर वहाँ ले जाते थे। माँ कौन कैसा है, इस बारे में खोद-खोद कर पूछतीं। माँ उस मठ के बारे में सारा समाचार अच्छी तरह से जानती थीं। एक दिन उनकी भतीजी ने इस संबंध में जिज्ञासा प्रकट की। इस पर माँ ने उससे कहा, "तुम्हें इन बातों से क्या लेना देना है?" उसके चले जाने के बाद माँ ने कहा, "देखो, सबको साथ लेकर चलना पड़ता है। ठाकुर कहते थे, 'श,ष,स— सब सहे जाओ, सहे जाओ। वे हैं, यह विश्वास रखो।'

बाद में जब माँ कोयलपाड़ा में आकर कुछ दिन रुकी थीं, तो एक दिन मठाध्यक्ष ने उनसे कहा, "माँ, लड़के लोग यहाँ रहना नहीं चाहते हैं। आप उन लोगों से कह दीजिए कि वे अन्य किसी स्थान में नहीं रह पायेंगे और वे यहीं रहकर अपना सब कामकाज करें। आप यदि ऐसा कह दें तो वे लोग फिर और कहीं नहीं जायेंगे।" यह बात सुनते ही माँ

क्रुद्ध होकर बोलीं, "तुम मुझसे क्या कहलाना चाहते हो? तुम समझते हो, मैं कह दूँगी कि वे लोग कहीं न रह पायें। वे लोग मेरे बेटे हैं, ठाकुर के पास आये हैं, वे लोग जहाँ जायेंगे ठाकुर उनकी देखभाल करेंगे। और तुम मेरे मुँह से कहलाना चाहते हो कि वे कहीं स्थान न पायें। यह बात मैं नहीं कह सकूँगी।" माँ तब खूब ऊँचे स्वर में बोल रही थीं। सभी भय से घबरा उठे। मठाध्यक्ष तब माँ के चरणों में गिरकर रोते हुए बोले, "माँ रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए।" माँ उसी समय एकदम शान्त हो गयीं।

एक दिन पूर्व बंग के कोई भक्त दीक्षा के लिए माँ के पास पहुँचे। माँ तब कोयलपाड़ा में थीं। माँ के पास यह समाचार भेजने पर उन्होंने कहा, "नहीं, दीक्षा नहीं होगी।" भक्त यह सुनकर हताश हो गये। दूसरे दिन वे किसी से कुछ न कहकर माँ के कमरे के सामने बैठकर रोने लगे। माँ को यह पता चलने पर उन्होंने कहा, "वह क्यों इस प्रकार रो रहा है? उसे चले जाने को कहो।" मैं उससे माँ का आदेश कहने गया, पर उसकी दयनीय अवस्था देखकर कह नहीं पाया। इस बीच देखता हूँ कि माँ स्वयं ही अपने (कमरे के) सामने का दरवाजा थोड़ा खोलकर भक्त को देख रही हैं। मेरे भीतर प्रवेश करते ही माँ ने मुझसे कहा, "उससे कह दो, कल उसकी दीक्षा होगी।" यह सुनकर वह भक्त और भी जोरों से रोने लगा। दूसरे दिन उसकी दीक्षा हो गयी।

कोयलपाड़ा में कृष्णप्रसन्न नाम का एक शिक्षित भक्त

कुछ दिनों तक था। माँ ने एक दिन हम लोगों से कहा, "देखो, विदेशों से बहुत से साहब आदि सब भक्त आयेंगे। तुम लोग कृष्णप्रसन्न के पास अंग्रेजी लिखना-पढ़ना सीख लो। माँ के कथनानुसार हम लोगों ने लिखना-पढ़ना आरंभ किया था। किन्तु कुछ दिनों बाद कृष्णप्रसन्न के चले जाने से वह बंद हो गया।

किसी स्त्री भक्त के पास माँ के चरणचिह्न थे। एक दिन वह चोरी चला गया। उसे लेकर स्त्रियों के बीच बवाल मच गया। माँ तब कोयलपाड़ा में थीं। यह सुनकर वे हँसते हुए बोलीं, "अरे, उसे लेकर तुम लोगों के बीच इतना झगड़ा क्यों? मैं तो हूँ जितने (पद-चिह्न) चाहो, ले लो।" बाद में कुछ कपड़े और आलता लाकर उन्होंने बहुत से पद-चिह्न बना दिये। इसके साथ ही झगड़ा भी समाप्त हो गया।

एक दिन माँ ने प्रसन्न मामा के घर बातचीत के दौरान कहा, "देखो, राधू जन्म लेने के पहले सर्वदा छाया के रूप में मेरे सामने घूमती रहती थी। उसकी ओर दिखाते हुए ठाकुर ने कहा, इसका आश्रय लेकर रहना। उसी राधू को लेकर मैं कितनी आसक्ति में डूबी हूँ, देखो न। गौरदासी किस प्रकार अपनी लड़कियों को तैयार कर रही है और मैंने एक बन्दरिया को तैयार किया है।"

एक दिन जयरामबाटी में कोई एक साधु, कागज, कलम तथा दावात लेकर माँ के पास पहुँचे और बोले, "माँ,

दूध की मात्रा बहुत कम हो गयी है, एक गाय से जो दूध होता है वह पूरा नहीं पड़ता। इसलिए सोचता हूँ कि एक गाय और खरीद लूँ। यदि आप अनुमति दें तो एक व्यक्ति को रुपये के लिए लिख दूँ।'' माँ ने कहा—लिख दो, तुमने मुझे रुपया निकालने का यंत्र समझ लिया है। तुम सोचते हो कि बस लिखने से ही रुपया आ जायेगा, है न?

उनके जाने के बाद माँ हँसते हुए बोलीं, "देखो उसकी कैसी कामना है, एक बार मैंने बाबूराम को मिश्री की शरबत पीने को दी थी। बाबूराम को तब पेट की बीमारी थी। ठाकुर ने वह देख लिया। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा, 'तुमने बाबूराम को क्या पीने को दिया था?' मैंने कहा, 'मिश्री का शर्बत'। वह सुनकर ठाकुर ने कहा, 'इन लोगों को साधु होना है । यह सब क्या आदत डाल रही हो' ।"

एक दिन मैंने माँ से पूछा, "मैं किस प्रकार साधन-भजन करूँ?" माँ ने कहा, "ठाकुर को पुकारने से ही सब होगा।" यह मेरे मन के अनुरूप न होने पर मैंने पुनः माँ से पूछा। तब माँ नाराज होकर उच्च स्वर में बोली, "मैं और कुछ नहीं जानती। ठाकुर के पास जो चाहोगे, वही पाओगे।"

कोई एक भक्त माँ के पास दीक्षा लेने गये तो माँ ने उनसे पूछा, "तुम्हारे वंश का मंत्र क्या है?' भक्त ने कहा, "वह तो मुझे नहीं मालूम।" तब माँ थोड़ी देर चुप रहकर बोली उठीं, "तुम्हारे वंश का मंत्र यह है।" और उन्होंने उस

भक्त को दीक्षा प्रदान की।

कोयलपाड़ा में एक दिन एक पागल आकर घर के सामने उत्पात मचा रहा था। माँ ने उसका पागलपन देखकर कहा, "देखो न, यहाँ सब पागलों का मेला ही है। हम लोग आये हैं करके सब पागल आ रहे हैं। देखो, राधू पागल, उसकी माँ पागल, इन सबके साथ ही मेरा निवास है।" यह कहकर वे थोड़ी देर चुप रहीं, फिर बोलीं, "घर में आयेगी चण्डी, सुनेंगे बहुत चण्डी। आयेंगे बहु दण्डी, योगी जटाधारी।"

*

वैज्ञानिक निकोला टेस्ला

स्वामी विदेहात्मानन्द

रात के सघन अन्धकार में आज जब हम बिजली का एक बटन दबाते हैं, तो सारा कमरा आलोकित हो उठता है। उस समय क्या हम सोच पाते हैं कि विद्युत-शक्ति को इस प्रकार वायु तथा जल के समान सर्वत्र सुलभ कराने के लिए कितने ही वैज्ञानिक तथा आविष्कारकों ने अथक परिश्रम किया है? निकोला टेस्ला ऐसे ही वैज्ञानिकों में एक थे। १८८२ ई. में ही यद्यपि लंदन तथा न्यूयार्क नगरों में विद्युत-वितरण के लिए डी.सी. करेन्ट के पावर-हाउस बनाये गये थे, परन्तु उनकी अपनी सीमाएँ थी, क्योंकि कम वोल्टेज का डी.सी. विद्युत अधिक दूर तक नहीं ले जाया जा सकता था। इसके फलस्यरूप एक ही नगर में कभी-कभी तो एक दर्जन से भी अधिक पावर-हाउसों की आवश्यकता हुआ करती थी। ए.सी. विद्युत को उस काल के प्रमुख वैज्ञानिकों ने खतरनाक कहकर विरोध किया था। निकोला टेस्ला ही ऐसे प्रथम वैज्ञानिक थे, जिन्होंने इसे निरापद सिद्ध किया तथा इसके व्यावहारिक उपयोग की पद्धति का विकास किया। उनकी ८०वीं वर्षगाँठ पर उन्हें सम्मानित करने के निमित्त यूरोप के अनेक नगरों में सभाओं का आयोजन किया गया था। चुम्बकीय परावर्तन के क्षेत्र में उनके कार्य को स्वीकारते हुए उसे 'टेस्ला' की संज्ञा दे दी गयी थी। १९१२ ई में भौतिकशास्त्र का नोबल पुरस्कार उन्हें एडीशन के साथ संयुक्त रूप से देने की घोषणा की गयी थी, परन्तु उन्होंने

इसमें अपना अपमान समझा तथा घोर अभाव में जीवन बिताते हुए भी उसे अस्वीकार कर दिया। १९४३ ई. में जब न्यूयार्क में उनका देहावसान हुआ तो तीन नोबल पुरस्कार विजेताओं ने उनकी शोक-सभा में भाग लेकर एक ऐसे व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की थी, जिन्होंने "अपनी बुद्धि के द्वारा वर्तमान तकनीकी प्रगति के क्षेत्र में पथ का निर्माण किया था।"

अद्‌भुत् प्रतिभा के धनी वैज्ञानिक टेस्ला का जन्म १० जुलाई १८५७ ई. को वर्तमान युगोस्लाविया में हुआ था। आस्ट्रिया तथा प्राग के विश्वविद्यालय में उन्होंने भौतिकशास्त्र तथा गणित का अध्ययन किया। प्रारम्भ से ही उनकी विद्युत में रुचि थी। २६ वर्ष की आयु तक बुडापेस्ट तथा पेरिस में कार्य करने के पश्चात् १८८४ ई में वे अमेरिका गए और बाद में वहीं की नागरिकता ले ली। अगले वर्ष उन्होंने अपने कुछ डायनेमों, ट्रांसफार्मरों तथा मोटरों का पेटेन्ट अधिकार बेचकर न्यूयार्क में ही अपनी निजी प्रयोगशाला स्थापित की। राटजन द्वारा एक्स-रे का आविष्कार करने के एक दशक पूर्व ही वे उस प्रकार के प्रयोगों में व्यस्त थे। १८८८ ई. में उन्होंने ए.सी. मोटर का आविष्कार किया जो आज भी सर्वत्र काम में लाया जाता है। १८९१ ई में उन्होंने टेस्ला क्वायल बनाया, जो अब भी रेडियो टेलीविजन तथा अन्य विद्युत उपकरणों में प्रयुक्त हो रहा है। १८९३ ई. में उन्होंने बेतार रेडियो प्रसारण का विस्तार मे [illegible]न किया था, परन्तु मारकोनी ने शीघ्रतापूर्वक सार पेटेन्ट ले लिये, जिन्हें बाद में १९४३ ई में उच्चतम न्यायालय ने गैरकानूनी करार दिया था। १८९३ ई में शिकागो की ऐतिहासिक प्रदर्शनी में, जिसमें २

करोड़ ३० लाख से भी अधिक दर्शक आये थे, टेस्ला की पद्धति से ही विद्युत व प्रकाश की उपलब्धि करायी गयी थी। उसी समय से उन्हें विश्व भर में मान्यता प्राप्त हुई। इसके फलस्वरूप उन्हें नियाग्रा के प्रपात से जल-विद्युत उत्पादन करने का कार्य मिला। १८९६ ई. में जब यह बनकर तैयार हुआ तो इससे ३५ किलोमीटर दूर तक विद्युत पहुँचा कर बफेलो नगर में प्रकाश आदि की व्यवस्था की गयी थी। १८९८ ई. में उन्होंने दूर से नियंत्रित स्वचालित जलयान का आविष्कार करने की घोषणा की, जो उस काल में अकल्पनीय था। अतः लोगों के सन्देह प्रकट करने पर उसका सार्वजनिक प्रदर्शन किया गया। १८९९-१९०० ई. में उन्होंने 'टेरीटोरियल स्टेशनरी वेव' पर अपनी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण खोज की। फिर उन्होंने ४० किलोमीटर दूर खम्बों पर अवस्थित २०० बल्बों को बिना तार के माध्यम से ही जलाकर दिखाया तथा १३५ फीट लम्बा विद्युत तड़ित चमका कर प्रदर्शित किया।

टेस्ला के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आविष्कारों का हमने यहाँ अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया है। धन तथा नाम कमाने की कला में अव्यावहारिक होने के कारण उनकी खोजों का आर्थिक लाभ तथा यश दूसरे लोग ही पाया करते थे। धनाभाव के कारण उनके बहुत-से विचार व आविष्कार बिना परीक्षण व प्रचार के उनकी डायरियों में ही पड़े रह गये तथा इसी वजह से १९०० ई. में आरम्भ किया हुआ 'विश्व बेतार प्रसारण टावर' का निर्माण कार्य उन्हें अधूरा ही छोड़ देना पड़ा था। उनके मन में रेडियो मिसाइल व जेट विमान की कल्पना ही नहीं, विस्तृत योजना भी थी।

स्वामी विवेकानन्द की निकोला टेस्ला के साथ

मुलाकात हुई थी, पर निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनकी प्रथम मुलाकात कब और कहाँ हुई। १८९६ ई. की जनवरी-फरवरी में जब स्वामीजी न्यूयार्क में प्रति रविवार को सांख्य के सृष्टितत्त्व पर व्याख्यान दिया करते थे तब उनके बीच-बीच प्रगाढ़ मैत्री स्थापित हुई थी। टेस्ला तब तक काफी विख्यात हो चुके थे तथा अपने प्रयोगों आदि में इतना डूबे रहते थे कि उनके मित्रगण चिंतित हो जाते और उन्हें थोड़ा आराम देने के उद्देश्य से उनकी प्रयोगशाला में ताला लगाकर चाभी छिपाकर रख दिया करते थे। ऐसे अवसरों पर लोग विस्मित होकर देखते कि वे न्यूयार्क के ही हार्डमैन्स हाल अथवा मैडिसन स्क्वैयर गार्डन के सभा-गृह में खड़े हो व्याख्यान सुन रहे हैं, क्योंकि देर से आने के कारण उन्हें बैठने को जगह न मिल सकी थी। वक्ता थे—प्रसिद्ध हिन्दू योगी स्वामी विवेकानन्द १९ फरवरी १८९६ ई. को वहाँ से 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के संवाददाता ने लिखा था—"आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ विद्युत विज्ञानी निकोला टेस्ला ने कुछ दिनों पूर्व स्वामीजी की सांख्य दर्शन की व्याख्या सुनकर...इसकी श्रेष्ठता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हुए कहा कि सृष्टि-विज्ञान की समस्याओं का समाधान करने के लिए आधुनिक विज्ञान सिर्फ कल्प, प्राण और आकाश के इस युक्तिपूर्ण सिद्धांत को ही मान्यता प्रदान कर सकता है।"

परवर्ती काल में स्वामीजी ने अपने कुम्भकोणम के व्याख्यान में टेस्ला के नाम का उल्लेख किए बिना ही कहा था—"पाश्चात्य देशों के कई बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने मेरे समक्ष स्वयं ही वेदांत के सिद्धांतों की युक्तियुक्तता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। इनमें से एक वैज्ञानिक महोदय

के साथ मेरा विशेष परिचय है। वे अपनी वैज्ञानिक गवेषणाओं में इतने व्यस्त रहते है कि उन्हें स्थिरता के साथ खाने-पीने या कहीं घूमने-फिरने की भी फुरसत नहीं रहती, परन्तु जब कभी मैं वेदांत संबंधी विषयों पर व्याख्यान देता तो वे घण्टों मुग्ध होकर सुना करते थे; क्योंकि उनके कथनानुसार, वेदांत की सब बातें अत्यन्त विज्ञानसम्मत हैं, वर्तमान वैज्ञानिक युग की आकांक्षाओं को वे बड़ी सुन्दरता के साथ पूर्ण करती है और आधुनिक विज्ञान बड़े-बड़े अनुसंधानों के बाद जिन सिद्धांतों पर पहुँचता है, उनसे इनका पूर्ण सामंजस्य हैं।''

टेस्ला से अपनी व्यक्तिगत भेंट का विवरण स्वामीजी ने अपने एक पत्र में दिया है। १३ फरवरी १८९६ ई. को ई.टी. स्टर्डी के नाम लिखे हुए उस पत्र का अंश इस प्रकार है—''फ्रेंच अभिनेत्री सारा बर्नहार्ड यहाँ (Iziel) नाटक में अभिनय कर रही हैं।...मैं इस बुद्ध नाटक को देखने गया था और मैडम ने मुझे श्रोताओं के बीच देखकर मुझसे मुलाकात करने की इच्छा प्रकट की।...एक प्रतिष्ठित और परिचित परिवार ने मिलने की व्यवस्था की। इनके अतिरिक्त वहाँ पर...विद्युत विज्ञान में अति निपुण श्रीयुत टेस्ला भी थे।

''श्रीयुत टेस्ला वेदांतिक प्राण, आकाश और कल्प के सिद्धांत सुनकर बिल्कुल मुग्ध हो गये। उनके कथनानुसार आधुनिक विज्ञान केवल इन्हीं सिद्धांतों को ग्रहण कर सकता है। अब आकाश और प्राण, दोनों जगद्‌व्यापी महत्, समष्टि मन, ब्रह्मा या ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं। श्री टेस्ला समझते हैं कि गणितशास्त्र की सहायता से वे यह प्रमाणित कर सकते है कि जड़ और शक्ति दोनों ही स्थितिक ऊर्जा (Potential Energy) में रूपांतर हो सकते हैं। गणितशास्त्र के इस नवीन

प्रमाण को समझने के लिए मैं आगामी सप्ताह उनसे मिलने जा रहा हूँ। ऐसा होने पर वेदांतिक ब्रह्मांड-विज्ञान अत्यन्त दृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित हो सकेगा।"

क्या स्वामीजी के जाने पर टेस्ला उनके समक्ष पदार्थ (Matter) और शक्ति (Energy) का एकत्व सिद्ध कर सके थे? संभवत: नहीं, क्योंकि यद्यपि इसका कोई प्रत्यक्ष विवरण नहीं प्राप्त होता, परन्तु इस घटना के लगभग डेढ़ वर्ष बाद अपने लाहौर व्याख्यान में स्वामीजी ने थोड़ा संकेत दिया था। वे कहते हैं—"...हमने देखा कि सम्पूर्ण संसार को केवल दो तत्त्वों में पर्यवसित किया गया है, अभी तक हम चरम एकत्व तक नहीं पहुँचे।...क्या (आकाश और प्राण) इन दोनों में भी कोई एकत्व पाया जा सकता है? ये सभी क्या एक तत्त्व में पर्यवसित किये जा सकते हैं? हमारा आधुनिक विज्ञान यहाँ मौन है, वह किसी तरह की मीमांसा नहीं कर सका है।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि श्रीयुत टेस्ला अपने प्रयास में विफल सिद्ध हुए थे, तथापि सांख्य-वेदांत सृष्टि-विज्ञान की युक्तिवादिता उनके मन में घर कर गयी थी। १९०० ई. की 'सेंचुरी मैगजीन' में उन्होंने एक लेख लिखकर धर्म और नैतिकता को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया था, जिसमें उन्हीं आकाश, कल्प आदि शब्दों का प्रयोग भी किया गया था।

परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि शनै:शनै टेस्ला के विचार बदलते गये और १९०५ ई. में अल्बर्ट आइन्सटाइन ने जब अपने प्रसिद्ध समीकरण के द्वारा जड़ पदार्थ और शक्ति की एकता सिद्ध की, तो टेस्ला उनके प्रमुख विरोधियों में एक थे। उन्होंने बारम्बार यह घोषणा की कि अणुशक्ति एक कोरी कल्पनामात्र है और यह भी कि उन्होंने लाखों वोल्ट

विद्युत-शक्ति से अरबों-खरबों परमाणुओं पर प्रहार किया है पर उनमें कोई शक्ति नहीं प्रकट हुई। उनका यह हठ भी उनके जीवन का एक दुर्भाग्य था, पर अपने जीवन के सांध्यकाल में जाकर उन्होंने पदार्थ-शक्ति-एकता की वास्तविकता को स्वीकार किया। 'मानव की सर्वोच्च उपलब्धि' शीर्षक अपने एक लेख में, जो कि उनके जीवन काल में अप्रकाशित ही रहा था, उन्होंने लिखा—"काफी काल पूर्व उसने (मानव) लक्ष्य किया कि सभी स्थूल पदार्थ एक मूलभूत या अतिसूक्ष्म अचिन्त्य भूत से, आकाश या प्रकाशवाही ईथर से व्यक्त होते है, जिस पर जीवंत प्राण या क्रिया-शक्ति अनंत काल तक प्रतिक्रिया करते हुए सभी पदार्थ व दृश्य प्रपंचों की सृष्टि करती है। मूलभूत (पदार्थ) तीव्र गति के अनंत भँवरों में पड़कर स्थूल भूत के रूप में परिणत हो जाते हैं; फिर शक्ति घटते-घटते, गति रुक जाती है और पदार्थ लुप्त होकर अपने प्राथमिक मूल रूप में लौट जाता है।...

"भौतिक पदार्थों की सृष्टि और विनाश करना, अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें कार्य में नियोजित करना—मानव मन की सर्वोच्च अभिव्यक्ति होगी, भौतिक जगत् पर पूर्ण विजय कही जायगी, सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि होगी और जो उसे अपने सृष्टिकर्ता के निकट ले जाकर चरम पूर्णता तक पहुँचा देगी।"

इस प्रकार हम देखते है कि स्वामी विवेकानन्द ने इन महान् वैज्ञानिक के मन-बुद्धि पर इतनी गहरी छाप छोड़ी थी कि यद्यपि वे धीरे-धीरे उनसे दूर चले गए पर अंत में उन्हें लौट आना पड़ा था और लगभग ५० वर्ष की दीर्घकाल

के अंतराल के बावजूद उनके भीतर स्वामीजी के ही विचार व शब्द प्रतिध्वनित हो रहे थे।

*

प्रार्थना

मनिमय गुप्ता, नागपुर

नयनों से परे स्वयं को
रखते हो सदा छुपाए।

अज्ञान मेघ से ढँककर
मम आकुल चित्त लुभाए।।

मोहान्धकार के पट से
तुम रखते निज को ढँककर।

अब कर दो दूर तिमिर यह
निज ज्ञान प्रदीप ज्वलित कर।।

दिन रात विराजो प्रियवर
मेरे अन्तर निर्मल में।

मन मुग्ध भ्रमर सम रत हो
निशि-दिन तव चरण कमल में।।

मास्टर महाशय की स्मृतियाँ

काका कालेलकर

(आचार्य काका कालेलकर अपनी तरुणावस्था में नास्तिक हो गये थे। किस प्रकार स्वामी विवेकानन्द, भगिनी निवेदिता तथा मास्टर महाशय के ग्रन्थ पढ़कर हिन्दू धार्मिक परम्परा में उनकी आस्था लौटी, इसका प्रस्तुत लेख में उन्होंने रोचक विवरण देते हुए अपने व्यक्तिगत संस्मरण लिखे हैं। यह लेख मुंशी प्रेमचन्द द्वारा सम्पादित 'हंस' मासिक के जनवरी १९३६ ई. अंक में 'कुछ विशिष्ट व्यक्ति' श्रृंखला में प्रकाशित हुआ था। इसके ऐतिहासिक महत्व को देखते हुए हम 'विवेक ज्योति' में इसका पुनर्मुद्रण कर रहे हैं।—सं.)

जिस प्रकार न्यायमूर्ति रानाडे के धर्म-विषयक लेखों के कारण मैं नास्तिकता से आस्तिकता की ओर वापस लौटा, उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द के मूल-ग्रन्थों के पढ़ने के कारण मेरा झुकाव फिर 'सन्त-मत' की ओर हो चला था, किन्तु स्वामी विवेकानन्द को पढ़कर भी मैंने 'प्रार्थना समाजी वृत्ति' न छोड़ी होती, यदि स्वामीजी का यह वाक्य मेरे अन्तःकरण पर प्रभाव न डालता कि मुझमें तुम जो कुछ देखते हो, वह सब मुझे अपने सद्‌गुरु रामकृष्ण परमहंस से प्राप्त हुआ है। धर्म का आशय है श्रद्धा, निष्ठा, अनुभव और साक्षात्कार। इन सबका संग्रह रामकृष्ण परमहंस में था और वे सचमुच ही अवतारी पुरुष थे, युग पुरुष थे। अँगरेजी-शिक्षा से विशेष प्रभावान्वित होने के कारण और स्वामी विवेकानन्द का उपदेश भी अँग्रेजी में होने से ही विशेष रूप से हृदयंगम हो सका, ऐसा मुझे आज भी जान

पड़ता है। मैक्समूलर द्वारा प्रकाशित रामकृष्ण परमहंस के उपदेश भी उतने ही अधिक हृदयंगम न हो पाते, यदि उससे पूर्व मैंने विवेकानन्द को न पढ़ लिया होता। अँगरेजी-भाषा के आकर्षण के अतिरिक्त स्वामी विवेकानन्द की विवेचन शैली भी ध्यान देने की वस्तु है। उन्हें इस बात का अच्छी तरह पता था, कि मुझे अपनी बातें बुद्धिवादी जगत् के सम्मुख उपस्थित करनी है। साथ ही उसी शैली से निरूपण करने में भी वे सिद्धहस्त थे।

स्वामी विवेकानन्द ने राजनीति में कभी भाग नहीं लिया, किन्तु फिर भी देशाभिमान उनकी नस-नस में समाया हुआ था। इस श्रद्धा को भी उन्होंने जन्म दिया, कि 'पतित-भारत प्रबुद्ध-भारत बनकर संसार का गुरुपद ग्रहण करे' और इसके अनुसार उन्हें अनेक पाश्चात्य शिष्य भी मिले। उनमें भगिनी निवेदिता का नाम विशेष रूप से लिया जाना चाहिए। इन महान भगिनी ने शिक्षा शास्त्र, इतिहास और कला का गंभीर अध्ययन किया था, इसी प्रकार समाज-शास्त्र विषयक आकलन भी उनका असाधारण था। स्वामी विवेकानन्द जैसे प्रतिभावान् महापुरुष से हिन्दू-धर्म, हिन्दू-सस्कृति का रहस्य समझ सकने की पात्रता उनमें विशेष रूप से थी। और उस रहस्य को अपनी संस्कारी एवं सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से गौरव पूर्ण शैली में संसार के सम्मुख रखने में भी वे सफल हुईं। उनका सारा साहित्य उच्चकोटि का है और उसका पढ़ना मानो विश्वविद्यालय की सम्पूर्ण

शिक्षा प्राप्त कर लेना है। इन महान देवी ने भारत में आकर हिन्दू-धर्म की दीक्षा ग्रहण की और हिन्दू समाज के साथ एकरूप होकर शुद्ध अन्तःकरणपूर्वक लगन से सेवा करते हुए चन्दन की तरह अपनी काया को घिस-घिसकर जीवन सफल किया। उन्हें प्रतीत होता था कि रामकृष्ण और विवेकानन्द की जोड़ी गुरु-शिष्य के रूप में नहीं, वरन् इन दो शरीरों में विचरने वाली एक ही व्यक्ति को ईश्वर ने भेजा था। इसी की प्रेरणा से अनेक बंगाली युवकों ने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रवेश करके अपने बुद्धि वैभव द्वारा विभिन्न प्रकार का चमत्कार कर दिखाया है।

एक दिन गेरुआ जिल्द की एक पुस्तक मेरे हाथ में आई। उसका नाम था—' दि गास्पेल ऑफ रामकृष्ण परमहंस (अकार्डिङ्ग टु एम) दि आइडियल मैन फॉर इंडिया एण्ड दि वर्ल्ड' प्रारंभ में ही स्वामी विवेकानन्द का आभार प्रदर्शक पत्र था — "अत्यन्त, अत्यन्त, अत्यन्त, आभार। ईश्वर की इच्छा गुरुदेव का चरित्र आप ही के हाथों से लिखवा लेने की थी। हम लोगों से यह काम कभी न बन पड़ता। ग्रीस देश में अफलातून (प्लेटो) ने अपने गुरु सुकरात का संवाद लिखा रक्खा है; किन्तु उसमें सर्वत्र प्लेटो ही भरा हुआ है; आपने गुरुदेव का संवाद तो लिख डाला, किन्तु अपने को पूर्णतया गुप्त ही रक्खा है।"

उक्त ग्रन्थ के रचयिता 'एम्' रामकृष्ण परमहंस के शिष्य महेन्द्रनाथ गुप्त ही थे। स्वामी विवेकानन्द ने उपर्युक्त

पत्र में उनके अल्ल 'गुप्त' शब्द पर बड़े मजे का श्लेष किया है। (इस स्मृति चित्र को लिखते समय एक भी ग्रन्थ मेरे पास नहीं है) उपर्युक्त अवतरण भी मैंने अपनी स्मृति के आधार पर दिया है।) रामकृष्ण मिशन में महेन्द्रनाथ गुप्त को मास्टर महाशय कहा जाता था। उन्होंने 'मार्टन इंस्टिट्यूट' नाम का एक बहुत बड़ा हाईस्कूल चलाया था, कदाचित् उसी के कारण उनका यह नाम पड़ा हो।

मास्टर महाशय का 'गास्पेल' सचमुच ही एक अप्रतिम ग्रंथ है। रामकृष्ण परमहंस अपनी शिष्य मंडली में बैठकर जो अनेकानेक धर्म-संवाद किया करते, उन्हें ये अत्यन्त निष्ठापूर्वक अक्षर-अक्षर अपनी डायरी में लिख लेते थे; अतएव गुरुदेव के देहत्याग के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द द्वारा रामकृष्ण-मिशन की स्थापना की जाने पर इन्होंने अपनी डायरी में के नोट देखकर उसी पर से सब संवाद लिख डाले। प्रत्येक संवाद के आरंभ में, गुरुदेव कहाँ बैठे थे, किस ओर उनका मुख था, किस प्रकार की रजाई वे ओढ़े हुए थे, उनका हुक्का कौन तैयार कर रहा था, इत्यादि सभी छोटी-मोटी बातें लिखकर उन्होंने उस प्रसंग का हूबहू शब्द चित्र हमारे सामने उपस्थित कर दिया है।

रामकृष्ण परमहंस पठित विद्वान नाम को भी नहीं थे। उनका समग्र ज्ञान भिन्न-भिन्न अवसरों पर उनके गुरु बनाए हुए विभिन्न व्यक्तियों के (गुरु) मुख से ही प्राप्त हुआ था। भिन्न-भिन्न संप्रदायों की भिन्न-भिन्न साधनाओं का उन्होंने

प्रत्यक्ष अनुभव कर देखा था। जब कोई उनके सामने बैठकर शास्त्र पढ़ने लगता, तो वे कहते कि जो कुछ मैं कहता हूँ वही अर्थ सच्चा है, क्योंकि यह अनुभव का विषय है। यदि मेरा बतलया हुआ तात्पर्य शास्त्र से व्यक्त न होता हो, अथवा शास्त्र वचनों से 'संगत' न होता हो, तो समझ लेना चाहिए कि लिखने या अर्थ करने में अवश्य कहीं भूल हुई है।

प्रत्येक शिष्य को तैयार करने की उनकी पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न थीं। जिसकी जैसी योग्यता और मनोवृत्ति होती, उसे उसी प्रकार की साधना वे बतलाया करते थे। एकदम पहली ही भेंट में गुरुदेव ने किस प्रकार उन्हें कृपापात्र बना लिया, इसका अत्यन्त छटादार वर्णन देकर मास्टर महाशय ने अपने ग्रंथ का आरंभ किया है। मूल में ये सवाद 'श्री रामकृष्ण कथामृत' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुए थे। उसी का अँग्रेजी करके मास्टर महाशय ने अपने 'गास्पेल' लिखे। इस पुस्तक से उन्हें बहुत लाभ हुआ, किन्तु उसे उन्होंने 'कथामृत-फंड' के नाम से अलग रखकर चरित्रवान साधकों को उसमें से बराबर सहायता दी।

जिस प्रकार कौए को कोई खाद्य पदार्थ मिलने पर वह काँव-काँव करके अपने सब जात-भाइयों को बुला लेता और अकेले ही न खाकर इष्ट मित्रों के साथ बैठकर खाने की शास्त्र-आज्ञा का पालन करता है, वही दशा मनुष्य प्राणी की भी है; अत: मैंने भी अपने एक मित्र के साथ 'गास्पेल' का

मराठी अनुवाद करने का निश्चय किया। इससे पूर्व स्वामी रामतीर्थ के लेखों का अनुवाद कर चुकने से 'आधुनिक सुशिक्षितों का वेदांत' मराठी में प्रतिपादन करने की कला मुझे कुछ सध गई थी।

उन्हीं दिनों वेदान्त के पठन एवं मनन तथा देश की परिस्थिति के कारण मुझे वैराग्य साधना के लिए हिमालय में जाना आवश्यक प्रतीत हुआ; अतएव वहाँ जाने से पूर्व कलकत्ते जाकर स्वामी विवेकानन्द के (बेलुड़) मठ, उद्बोधन कार्यालय के स्वामी सारदानंद, श्री सारदा माता (रामकृष्ण परमहंस की धर्मपत्नी) और मास्टर महाशय से मिल लेने का मैंने निश्चय किया। सुबह ९-१० बजे के लगभग मैं मास्टर महाशय के घर पहुँचा। घर बतलाने के लिए मिशन के एक ब्रह्मचारी मेरे साथ आये थे। मुझे पता लगा कि मास्टर महाशय पूजा में बैठे हुए हैं। घर में जहाँ-तहाँ सादगी दिखाई देती थी। थोड़ी ही देर में एक भव्य-मूर्ति हमारे सामने आकर खड़ी हो गई। मुझसे थोड़ी सी जानकारी प्राप्त करने के बाद उन्होंने सन्तोषपूर्वक कहा —"गास्पेल का मराठी अनुवाद करने वाला केवल पंडित ही नहीं; वरन् साधक भी है, यह परम संतोष की बात है।" शुभ्र दाढ़ी के कारण उनका चेहरा तो भव्य दिखाई देता था, किन्तु उससे अधिक उनके नेत्रों से दीर्घकाल पर्यन्त ध्यान में बैठने की दृढ़ता व्यक्त होती थी। सामने देखते समय उन की दृष्टि में व्यवहार- कुशल मनुष्य की वेधकता और

आध्यात्मपरायण व्यक्ति की साधुता का उत्तम मिश्रण व्यक्त होता था। कुछ देर बातचीत करने के बाद मैं उनसे बिदा हुआ।

इसमे बाद मैंने हिमालय के गंगोत्री-जम्नोत्री, केदार-बदरी और काश्मीर के अमरनाथ आदि की यात्रा समाप्त कर पुरश्चरण के लिए ऋषिकेश के निकट ही कहीं रहने का निश्चय किया। वहाँ रहते समय रामकृष्ण मिशन के एक संन्यासी एवं दो ब्रह्मचारी मेरे पड़ोस में रहने आ गये थे। उनके साथ मैं मुख्यत धर्म, साधना और देश एवं परिस्थिति की ही चर्चा किया करता। मेरे मित्र अनतबुआ (बाबा) मर्ढेकर और स्वामी आनंद भी उन दिनों ऋषीकेश में ही थे। एक दिन निर्मल नामक बंगाली ब्रह्मचारी ने मुझसे कहा कि मास्टर महाशय इस बार जाड़े में कुछ दिन के लिए ऋषिकेश में आकर रहेंगे। यह सुनकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। उनको ठहराने के लिए स्थानादि का प्रबन्ध करने में मैंने बहुत कुछ परिश्रम किया था। जिस दिन वे आये वह दिन 'दास नवमी' (समर्थ रामदास की पुण्यतिथि) का था। अनन्तबुआ ने समर्थ की पुण्यतिथि मनाई थी। उस दिन से हम अनेक बार मास्टर महाशय के पास जाते और रामकृष्ण परमहंस एवं स्वामी विवेकानन्द विषयक स्मृतियाँ उनसे सुना करते थे। उस समय उनके स्वर की प्रेमार्द्रता और अपत्य-वत्सलता विशेष रूप से व्यक्त होती थी। हममें से अनन्तबुआ की भक्ति देखकर उन्हें विशेष आनन्द होता। एक

दिन मास्टर महाशय ने मुझसे कहा — तुम्हें बहुत कुछ कर्म करने हैं, किन्तु बुआ (बाबा) के सब कर्म समाप्त हो जाने से उनके हिस्से में केवल भक्ति-ही-भक्ति शेष रह गई है।

साधक को किस प्रकार रहना और कैसा आचरण रखना एवं कितना बोलता और कहाँ तक मौन रहना चाहिए, इन सब बातों को वे हमें विस्तार पूर्वक समझाया करते थे। मुझे याद है, एक बार उन्होंने यह भी कहा था कि यदि मिठाई खाने की कभी इच्छा हो, तो साधक को चाहिए कि गुरुदेव के मतानुसार वह पेड़े नहीं, वरन् जलेबी ही खाये, क्योंकि पेड़े ब्रह्मचारी के लिए घातक हैं, किन्तु जलेबी के विषय में यह बात नहीं है। इस प्रकार उन्होंने पेड़े और जलेबी का भेद समझाया था।

मास्टर महाशय के पास रामकृष्ण परमहंस के समय की वासरियों (डायरियों) की छोटी-छोटी बहियाँ रहती थीं। उनके किसी पेज को खोलकर उसमें लिखी हुई बातों को वे देखते और फिर पाँच-सात मिनट आँख बन्द करके उन लिखी हुई बातों का ध्यान करते। इस प्रकार जब वह प्रसंग उनके अन्तःचक्षुओं के सम्मुख प्रत्यक्ष उपस्थित हो जाता, तब वे उसका वर्णन करने लगते थे। उस समय हमें यही प्रतीत होता कि वे हमारे सम्मुख नहीं बैठे हुए हैं, वरन् उस प्रसंग के काल और परमहंस के सान्निध्य में पहुँच गये हैं।

मास्टर महाशय शिष्टाचार में बहुत ही पुरातन मत के

दिखाई देते थे। हमारी मंडली या अन्य ब्रह्मचारी अथवा साधु-संन्यासी से किसी प्रकार की सेवा लेने में उन्हें अपने गृहस्थाश्रमी होने के कारण पद-पद पर बड़ा संकोच होता था; खाने की वस्तुएँ हम लोग अन्न क्षेत्र से लाते थे। इस कारण उन्हें तो वे हमसे नहीं ही लेते थे, किन्तु हमारे द्वारा उनका आसन उठाया जाना अथवा पानी का लोटा भरा जाना भी उन्हें ठीक नहीं जान पड़ता था। उनके इस संकोच को दूर करने के लिए प्रथमत: मैंने महाराष्ट्रीय पद्धति का अत्याग्रह करके देखा, किन्तु बंगाली साथियों ने मुझे मना कर दिया। वे कहने लगे — मास्टर महाशय तुम्हारे आग्रह के कारण खिन्न हो जाते हैं।

एक विषय में मैंने उन्हें और भी बहुत दुखी किया। ऋषिकेश में जब मास्टर महाशय प्रसिद्ध संन्यासियों से मिलने अथवा विभिन्न संस्थाओं को देखने के लिए जाते, तब मुझे भी उनके साथ जाना पड़ता। उस समय मैं इस विचार से कि लोग इन महापुरुष के साथ उचित सम्मानपूर्वक व्यवहार करें किसी प्रकार का वार्तालाप आरंभ करने से पूर्व शीघ्रता से उनकी परिचय देने लग जाता था कि ये स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई हैं। इन्होंने रामकृष्ण के प्रत्यक्ष सुने हुए संवाद लिखकर प्रकाशित किये हैं, इत्यादि। मास्टर महाशय मुझे बारम्बार कहते कि मेरा जरा भी परिचय मत दीजिए, क्योंकि मैं बिलकुल साधारण मनुष्य की तरह सब बातें देखना चाहता हूँ। साथ ही मुझे यह भी जान लेना है

कि ये संन्यासी साधारण मनुष्यों के मामूली प्रश्नों का उत्तर किस प्रकार दिया करते हैं; किन्तु मुझे यह जान पड़ता कि यदि लोगों ने इनके साथ विनयपूर्वक व्यवहार न किया और ओछेपन से बातचीत की तो उस समय मेरी क्या दशा होगी! मैं अपनी आँखों से इनका अपमान या अनादर होते कैसे देख सकूँगा? क्या ऐसा करना मेरे लिए कर्तव्यच्युत होने जैसा न होगा? इन भावनाओं के साथ मैं अपने प्राण मुट्ठी में लेकर उनके साथ घूमता और प्रत्येक स्थान पर उनका परिचय देने से नहीं चूकता था।

एक बार मैं उन्हें स्वामी रामतीर्थ के एक शिष्य के पास ले गया। उन्हें अँगरेजी आती थी। वहाँ से वापस आने के बाद दूसरे दिन मैं अकेला ही उन राम-शिष्य के पास गया। उस समय वे दूसरे एक सज्जन से बातचीत करते हुए मास्टर महाशय के विषय में कहने लगे —"He calls himself the guru of Swami Vivekanand" (वे अपने को स्वामी विवेकानन्द का गुरु कहलवाते हैं।) उनके इन उद्गारों में तिरस्कार की सी भावना स्पष्ट दिखाई देती थी। मैंने तत्काल जान लिया कि मेरे वर्णन किये हुए शब्दों में से 'गुरुभाई' शब्द को इन्होंने पूरा नहीं सुना; इसीलिए मैंने उसी क्षण उनकी भूल का सुधार किया। यद्यपि उन्होंने इस भूल का सुधार तो किया; किन्तु फिर भी उनके चेहरे पर से तिरस्कार की भावना दूर न हो सकी; किम्बहुना वह और दृढ़ हो गई। मुझे बहुत बुरा लगा और उसी दिन से यह सोचकर कि एक महापुरुष की मेरे हाथों व्यर्थ ही असेवा

हो रही है, मैंने उनका उचित परिचय देने का स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया हुआ कर्तव्य त्याग दिया।

गंगा के तट पर आम नारियल जैसे पत्थर फैले हुए रहते थे, उन्हीं पर एक साधु एक ही स्थान पर अखड रूप से बैठा दिखाई देता था। किसी श्रद्धावान व्यक्ति ने उसको धूप और हवा से बचाने के लिए उस पर एक रावटी (डेरा) खड़ी कर दी थी। मास्टर महाशय ने हृषिकेश के हजारों साधुओं में से केवल उसी को पसंद किया। वे बारम्बार उसी के पास जाकर बैठा करते थे। मुझे भी वे दो-तीन बार उसके पास ले गये। यद्यपि मैं उस साधु की बड़-बड़ (बकवाद) का कुछ भी अर्थ न समझ सकने से उकता जाता; किन्तु वापस आते समय मास्टर महाशय मुझे उसी प्रलाप में के किसी विशिष्ट बचन को लेकर उसका गूढ़ अर्थ समझाते रहते थे। उनका वह विवेचन मुझे बहुत आकर्षक एवं शिक्षाप्रद जान पड़ता, किन्तु साथ ही मन में यह शंका बनी रहती कि ये सब बातें उस साधु के मन में भी थी, या मास्टर महाशय ही अपनी भोली श्रद्धा के कारण इतने गहन अर्थ का उस पागल के प्रलाप पर आरोपण कर रहे हैं। एक बार यह शका भी हुई है कि स्वामी विवेकानन्द और उनके गुरुभाइयों ने मिलकर तो कहीं रामकृष्ण परमहंस का इतना महत्व नहीं बढ़ा दिया है; किन्तु इस प्रकार की शंका या नास्तिकता क्षण मात्र ही टिक सकी और मुझे अपने-आप पर बड़ी लज्जा प्रतीत हुई। जब मैंने परमहंस का भव्य चरित्र एवं

उनके उद्गारों को प्रत्यक्ष रूप से पढ़ा था, तब तो इस प्रकार की शंका के लिए जगह मिलना शक्य ही न था; किन्तु फिर भी मनुष्य का मन ठहरा, वह किस-किस प्रकार की शंका करेगा और कहाँ-कहाँ पहुँच जाएगा, यह कौन बता सकता है? मास्टर महाशय को विश्वास था, कि रावटी में रहने वाला वह साधु अत्यन्त उच्चकोटि का महात्मा है। मैं उनके इस विश्वास के मार्ग पर नहीं गया; किन्तु फिर भी मास्टर साहब बिलकुल भोले तो हर्गिज नहीं थे। अपनी डाक लेने कभी-कभी वे खुद ही डाकखाने चल जाते थे। एक दिन वहाँ से आकर धीरे से वे मुझसे कहने लगे — यहाँ के पोस्टमास्टर को 'सर' के साथ सम्बोधन करने से वह बहुत खुश होता है और हमारा काम बड़ी शान्ति एवं शीघ्रता से कर देता है।

हृषीकेश के बाद मास्टर महाशय कुछ दिन के लिए वृन्दावन जाकर भी रहे थे। इधर मैं भी एक बार प्रेम महाविद्यालय के उत्सव के समय वृन्दावन जा पहुँचा था। उत्सव के अवसर पर उस संस्था के प्राण एवं प्रख्यात देशभक्त राजा महेन्द्रप्रताप एकदम सादे वेष में नम्र भाव से इधर-उधर आते-जाते दिखाई देते थे। जिन्होंने उन्हें देखा था, उन्हें उनके आत्मविलोपन की भावना पर बड़ा आश्चर्य होता था। मैं मास्टर महाशय को उत्सव में ले गया। उस समय मैंने निश्चय कर लिया था कि इनका किसी भी रूप में परिचय नहीं दूँगा। हम अपने-अपने स्थान पर जा बैठे। इतने

ही में मास्टर महाशय ने उस विशाल जन समुदाय में से राजा महेन्द्रप्रताप को अचूक रूप से पहचान लिया और धीरे से मेरे कान में कहा कि सफेद साफा बाँधे उस ओर खड़े हुए सज्जन ही राजा महेन्द्रप्रताप हैं न? वे ही होने चाहिए। मैंने आश्चर्यचकित होकर कहा—"हाँ वही होंगे; किन्तु इसी के साथ पूछा कि आपने उन्हें कैसे पहचान लिया?" उन्होंने कहा — मुझे अन्दर से प्रतीत हुआ कि यही वह महापुरुष होना चाहिए। उनके नेत्रों को तो देखिये। उनमें कितनी गंभीरता, लोकहित विषयक अन्तर्वेदना और एक प्रकार की भव्य शान्ति दिखाई देती है। यह महापुरुष जहाँ कहीं भी जायेगा, अपनी भव्यता से ऊँचा ही दिखाई देगा।

उत्सव के बाद मैंने मास्टर महाशय से कुछ सार्वजनिक जीवन की बातों पर चर्चा करनी चाही; किन्तु उन्हें वे बातें नहीं रुचीं। उन्होंने अत्यन्त कोमल एवं नम्र शब्दों में कहा कि तुम जैसे साधकों को ऐसी बातों में मन नहीं लगाना चाहिए। तुम्हें अखण्ड ईश्वर-प्राप्ति का ही विचार करना उचित है।

उनका कथन तो मुझे जँचा; किन्तु मेरा वैराग्य उस प्रकार का न था, इसका मैं क्या करता?

इसके बाद एक बार जब मैं कलकत्ते में उनसे मिला, तब वे बहुत वृद्ध हो गये थे, किन्तु फिर भी उन्हें जर्जर तो नहीं कहा जा सकता था। उनकी बैठक में दो छोटी-सी चौकियाँ एक पुस्तक और एक बही (कॉपी) के अतिरिक्त

कुछ भी नहीं था। उन्होंने मेरे लिए मिठाई मँगाकर बड़े आग्रह के साथ खिलाई और मेरी मित्र मंडली के विषय में आवश्यक पूछताछ भी की। जब उन्हें यह पता लगा कि मैं शातिनिकेतन में जाकर कुछ दिन अध्यापन कार्य करने वाला हूँ, तब उन्होंने मुझे सूचित किया कि वे लोग पहाड़ी में एक शिक्षा-संस्था खोलना चाहते हैं, क्या मैं उसमें भाग लूँगा? किन्तु मैं उन्हें अनिश्चित-सा उत्तर देकर वापस लौट आया; क्योंकि उस समय तो मुझे टैगोर की संस्था के प्रति ही विशेष आकर्षण था। मास्टर महाशय ने समझा होगा कि यह युवक उस एकान्त को न पचा सकेगा। शिक्षा-क्षेत्र का कीड़ा है और रामकृष्ण मिशन के वैराग्य की ओर इसका झुकाव है, इसलिए इसे वहीं लगा देना ठीक होगा। किन्तु वे खुद सब प्रकार के व्यवसायों से मुक्त हो चुके थे। 'श्रीरामकृष्ण कथामृत' के अनेक भागों की अनेक आवृत्तियाँ हो चुकी थीं। उनका संशोधन करने के अतिरिक्त और कथा-प्रसग के संवाद को निष्ठावान लोगों के लिए नये-नये ढंग से व्याख्या करने के सिवाय अन्य किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति में वे भाग नहीं लेते थे।

मैं उनसे अनेक बार मिला और अनेक परिस्थितियों में मैंने उन्हें देखा, किन्तु प्रत्येक बार मेरे मन पर यही प्रभाव पड़ा कि वे एक महान विभूति हैं। रामकृष्ण परमहस से इन्हें सचमुच ही कोई ठोस वस्तु प्राप्त हो चुकी है। और उसी के कारण इनके जीवन में अलौकिक एवं स्थायी परिवर्तन हो

गये हैं। उनकी वह शान्ति, ईश्वरनिष्ठा और पितृ तुल्य वत्सलता मैं कभी नहीं भूल सकता।

मैंने रामकृष्ण परमहंस के तीन शिष्यों को देखा, मास्टर महाशय के सम्मुख गुरुदेव की चर्चा आरंभ करते ही उनके अंतःकरण से प्रेम की धारा-सी फूट निकल पड़ती और उनके मुख से परमहंस के उपदेश का दुग्धामृत बहने लगता था। स्वामी प्रेमानंद स्वभाव से सर्वथा नामानुरूप और आचरण की दृष्टि से मूक सेवानंद थे। उनसे जब गुरुदेव के संस्मरण सुनाने के लिए प्रार्थना की जाती, तो वे एकाग्र होकर कुछ कहने का प्रयत्न करते, किन्तु देखते-देखते ही गद्गद् होकर मुँह से एक शब्द का उच्चारण तक न करते हुए चुप रह जाते; किन्तु स्वामी ब्रह्मानंद के सम्मुख गुरुदेव की चर्चा आरंभ करते ही वे क्षणिक गंभीर होकर तत्काल विषयांतर कर देते थे। मानो वे मूक भाव से यह कहते थे कि हमारा वह गूढ़ और पवित्र अनुभव वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। वे बातें तुम्हारे लिए नहीं हैं। उन अचिंत्य भावनाओं को वाणी के साथ जोड़ना उचित नहीं है।

मास्टर महाशय को कलकत्ते में रहते हुए जब कभी किसी दवाई की आवश्यकता होती, तो वह भी वे उसी दूकान से लेते, जहाँ से कि गुरुदेव मँगवाया करते थे। गुरुदेव को जैसा आहार (भोजन) पसंद था, उसी को ये भी पसद करते थे। केशवचन्द सेन के ब्राह्म मंदिर में गुरुदेव जिस

स्थान पर खड़े रहते, उसी स्थान पर वे ठीक इस भावना के साथ कुछ देर खड़े रहते, जिस प्रकार कि हम देव-दर्शन के लिए मंदिर में जाने पर कुछ देर बैठ जाते हैं। गुरुदेव को जिस प्रकार की और जिस रंग की चादर पसंद थी एवं जैसे स्लीपर वे पहनते थे, वैसी ही वस्तुएँ उन्हीं स्थानों से मँगवा कर ये भी काम में लाते थे। उनकी वह भक्ति, वह वैराग्य और गृहस्थोचित नमूना देख कर मन में यही भाव उत्पन्न होता था कि भिक्षु संन्यासी होने में क्या सचमुच ही कोई लाभ है और तत्काल ही आधी हल्दी की गाँठ से पीला बनने वाले अथवा सच कहा जाय, तो गेरु धातु के एक टुकड़े से भगवा बन जाने वाले संन्यासी की उद्दंड मूर्ति तुलना के लिए आँखों के सामने आ खड़ी होती थी।

रामकृष्ण मिशन के अनेक ब्रह्मचारी एवं संन्यासियों को तथा मिशन से बाहर रहने वाले असंख्य निष्ठावान् लोगों को मास्टर महाशय से प्रेरणात्मक ज्ञान प्राप्त हुआ है। सचमुच ही गत पीढ़ी के वे एक आलौकिक विभूति थे।

*

श्रीरामकृष्ण-भाव-आन्दोलन में माँ सारदा का अवदान

स्वामी भूतेशानन्द

(१९८६ ई. में रामकृष्ण संघ की शताब्दी मनाई गई थी। उस वर्ष २३ दिसम्बर को माँ श्री सारदादेवी की जन्मतिथि पर श्रीरामकृष्ण योगोद्यान, काकुडगाछी (कलकत्ता) में आयोजित सार्वजनिक सभा की अध्यक्षता करते हुए श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने जो व्याख्यान दिया था, उसकी उपादेयता को देखते हुए हम उसका हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत कर रहे हैं। टेपबद्ध प्रवचन के अनुवाद का श्रमसाध्य कार्य किया है श्री राजेन्द्र तिवारी ने, जो रायपुर के श्रीराम सगीत विद्यालय में अध्यापक हैं। —सं.)

माँ की बातें कहने में भी आनन्द आता है और सुनने में भी। विशेषकर जब हमारे अंतःकरण के भाव को कोई शब्दों के द्वारा व्यक्त करता है तब उसे सुनकर हमारा मन उसमें बड़ा तल्लीन हो जाता है और लगता है कि ये तो हमारे मन की ही बातें हैं। हम जिनके बारे में सोचते हैं और कहना चाहते हैं, वही मानो शब्दों के माध्यम से बाहर व्यक्त होता है। इतनी अच्छी लगती हैं माँ की बातें कि जिनको माँ का आस्वादन करने की थोड़ी भी इच्छा हुई है, उन्हें इसके भीतर अभूतपूर्व रस मिला है। मैं कम से कम अपने बारे में तो कह सकता हूँ कि मुझे मिला है। किसने किस भाषा में कहा, किस घटना के बारे में कहा, यह कोई महत्व की बात नहीं। ऐसा नहीं लगता कि माँ के बारे में कोई नई बात कह

सकें, ऐसा कोई व्यक्ति अब हमारे बीच है। दो-एक लोग हैं, जिन्होंने माँ के स्थूल शरीर के रहते उनका दर्शन किया था, उनकी बातें भी प्रायः लिपिबद्ध हो चुकी हैं अथवा पुस्तकों में प्रकाशित हो चुकी हैं। पुरानी बातों को जब हम सुनते हैं, तब उन्हें पुनः नया करके आस्वादान करने की हमारी इच्छा होती है। भागवत में कहा गया है—"मेरे भक्त मेरी कथा सुनने में भी प्रीति रखते हैं और कहने में भी।" क्योंकि कहना और सुनना, दोनों एक ही रस का परिचायक है। जब कोई हमारे मन की ही बात कहता है, तब उसकी प्रत्येक बात हमारे अंतःकरण में प्रतिध्वनित होने लगती है। केवल मैं ही नहीं, चाहे कोई भी बोले और हम सुनें तो हमें ऐसा ही अनुभव होता है, प्रत्येक शब्द की प्रतिध्वनि उठती है। अतः इतना जो हम सुन चुके हैं, वे क्या हमारे अंतःकरण की बातें नहीं हैं? और यदि नहीं है तो इसको सुनने में कोई सार्थकता नहीं है। ये सारी बातें पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं, क्या इसलिए पुरानी हो गई? ऐसी बात नहीं है। जैसे माँ कभी पुरानी नहीं होतीं, उसी तरह माँ की बातें भी पुरानी नहीं होतीं। जब भी माँ का दर्शन होता है, आनन्द का अनुभव होता है; जब भी उनकी बातें सुनी जाए, आनन्द का ही अनुभव होता है। इस आनन्द का हम आस्वादन करेंगे और इसे जीवन का सम्बल बनाकर रखेंगे।

अन्तकाल में माँ हमें कहाँ ले जाएँगी, यह तो दूर की बात है, अभी वे हमारे हृदय में बैठकर हमारे अन्तःकरण को प्रकाशित कर रही हैं; हम इस रस का आस्वादन कर रहे हैं या कर सकते हैं। इसीलिए तो वे स्थूल शरीर धारण कर

लीला कर गई हैं। कितनी तरह की लीलाएँ हैं उनकी! श्रीरामकृष्ण-भाव-आन्दोलन में उनका क्या योगदान है? इसका उत्तर यह होगा कि जो कुछ भी श्रीरामकृष्ण का अवदान है, वह सब माँ का ही अवदान है। हम कहते हैं, माँ और ठाकुर भिन्न नहीं है। यह केवल एक सैद्धातिक बात नहीं है। यह बात हमेशा याद रखने और इस तत्व का आस्वादन करने के लिए है। माँ कहने से ठाकुर और ठाकुर कहने से माँ का ही बोध होता है। ठाकुर जब आए, जब थे, तब वे इतने गहन तथा इतने विशाल थे कि उनकी धारणा कर पाना हमारे लिए साध्य नहीं था। ठाकुर क्षण-क्षण में समाधिमग्न होते, न जाने कितनी उच्च भूमिका में बोलते, यह सब हमारी कल्पना से बाहर की बातें थीं। उन्हें देखकर हम मोहित भले ही हो जाते हैं, पर उनके पास नहीं जा पाते। क्योंकि उनके और हमारे बीच दूरी इतनी है, व्यवधान इतना अधिक है कि जैसा गीता में कहा गया है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्यमहात्मनः।।११/१२

हजारों सूर्य यदि एक साथ उदित हो जायँ, तो उसका जितना प्रकाश होगा, उसकी भी इस प्रभा के साथ, इस ज्योति के साथ तुलना की जा सकती है या नहीं? नहीं की जा सकती। ठीक इसी प्रकार ठाकुर इतने प्रभाविशिष्ट थे कि उन्हें देख हम स्तम्भित हो जाते हैं। सूर्य किरण देता है, उससे हमें प्रकाश मिलता है, लेकिन आँखे सीधी करके उसकी ओर हम देख नहीं सकते। इसलिए हमें

आवश्यकता है उसके साथ एक चंद्रमा की, जिसकी किरणें हमारे अंतःकरण को शीतल करती हैं, आँखों को स्निग्ध करती हैं। उस चन्द्रमा की शोभा की धारणा हम बड़ी सहजता से कर पाते हैं। कवियों ने जब भी सौन्दर्य की उपमा दी तो चन्द्रमा की ही दी, सूर्य की नहीं। और इस बात को हम जानते हैं, वैज्ञानिक सिद्धांत के द्वारा भी जानते हैं कि यह चाँदनी भी वस्तुतः सूर्य की ही किरण है। चन्द्रमा की अपनी कोई किरण नहीं। लेकिन चंद्रमा एक ऐसा माध्यम है, जिससे होकर सूर्य की किरणें आती हैं, जो हमें स्निग्ध, प्रफुल्ल और शान्त करती हैं; क्योंकि काफी हद तक हम उसकी धारणा कर पाते हैं। मेरे ख्याल से यह कहना उचित नहीं होगा कि माँ हम लोगों के पास चन्द्रमा के समान होकर हम लोगों के अन्तःकरण को प्रफुल्लित, स्निग्ध और शान्त करने के लिए आई थीं। यह जो माँ के स्नेह की मैं बार बार तुलना कर रहा हूँ, इसका अर्थ यह नहीं कि ठाकुर का स्नेह उनकी अपेक्षा कुछ कम था। ऐसी बात बिलकुल नहीं है। लेकिन ठाकुर के स्नेह का जो अनुभव कर सकें, ऐसे अधिकारी बहुत बिरले हैं। ठाकुर की लीला के समय भी जो लोग उनके सम्पर्क में आए, उनमें भी कितने लोग ठाकुर को एकदम अपना समझ कर ग्रहण कर सके थे? बस कुछ मुट्ठी भर लोग! आज हम ठाकुर के सबंध में ग्रथों में अनेक प्रकार से शोध करते है, यह मानो सूर्य की एक लघु किरण को लेकर उसके छोटे छोटे विभाग कर उसका विश्लेषण करने के समान है। जैसे सांध्य सूर्य को सीधे आँख उठा कर नहीं देखा जा सकता, उसी तरह श्रीरामकृष्ण सूर्य की धारणा कर सकने वाले बिरले ही कुछ

लोग है। ठाकुर ने स्वयं कहा है—अवतार जब आते हैं, तब कितने लोग उनकी धारणा कर पाते हैं? श्रीरामचन्द्र जब आए थे, तब मात्र बारह ऋषि ही उन्हें अवतार जानकर ग्रहण कर पाए थे। और बाकी सब यही समझते थे कि ये दशरथ के पुत्र हैं। उनका जो ऐश्वर्य, देवत्व, ईश्वरत्व है; वह मनुष्य की बुद्धि के लिए अगोचर है। इसे ही भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में आक्षेप करते हुए कहा है—

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥९/११

—"मोहग्रस्त लोग मुझे नरदेहधारी देखकर मेरी अवज्ञा करते हैं। मेरे स्वरूप को वे नहीं जानते।" इसी प्रकार अवतार जब आते हैं, तब उनके स्वरूप को जान सकें ऐसे लोग कितने हैं? जानने की चेष्टा करें ऐसे साहसी लोग भी कितने हैं? इस बार स्थूल देह में जब ठाकुर लीला कर रहे थे, तब कितने लोग वहाँ प्रवेश कर पाए थे? जो लोग वहाँ कालीबाड़ी में रहते थे तथा जो पास-पड़ोस के लोग थे, उन्होंने नित्य ठाकुर को देखा, परंतु वे उनसे दूर ही रहे। कभी अवज्ञा की तो कभी किनारा काट कर चले गए। कभी उनके बारे में गम्भीरता से नहीं सोचा। क्योंकि वे तो अन्य लोक के और अन्य भाषा के व्यक्ति थे, इसलिए उनके निकट सब लोग नहीं पहुँच पाते थे। अब यदि हम माँ की ओर देखें तो क्या दिखाई देता है? सभी स्तर के, सभी प्रकार के लोग—चाहे गृहस्थ हों या संन्यासी—सभी माँ को अपना जानकर ग्रहण करने के लिए लालायित हैं। माँ को 'माँ' कहकर पुकारने में कितना आनंद है। चाहे कोई दुश्चरित्र

हो, मद्यप हो, विषयी हो अथवा चाहे जैसा भी क्यों न हो; सबको माँ की आवश्यकता है। माँ के बिना कौन रह सकेगा? जैसे माँ के बिना शिशु नहीं रह सकता, उसी तरह हम भी माँ के बिना नहीं रह सकेंगे। माँ के पास हमारा हठ चलता है। हमारे सभी अत्याचार माँ सहन करती हैं। परंतु ठाकुर भी क्या सह पाते? माँ के समान सहनशक्ति क्या ठाकुर में थी? उनके लिए थे नरेन्द्र, रामचन्द्र, गिरीश और बड़े-बड़े त्यागी सन्तान! पर थे गिनती के । ठाकुर जितने लोगों को अपनाते, वे स्वयं हिसाब रखते, त्रुटि दिखने पर कहते—देखता हूँ, इनमें त्रुटि है। त्रुटि देखते देखते ही उनके दिन गए। और माँ? माँ के स्नेह की परिधि से बाहर कभी कोई दिखा ही नहीं। वे विश्व-ब्रह्मांड की जननी हैं। जब स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था, अँगरेजों के सामने नतमस्तक होकर पराधीनता में हम परम यातना का अनुभव कर रहे थे, उस समय सभी लोग अँगरेजों को शत्रु की दृष्टि से देखते और उनसे संत्रस्त रहते थे। तब माँ कहतीं, "वे भी तो मेरी ही संतान हैं। दुष्ट हो या शिष्ट हो; अमजद हो या शरत् हो; वेश्या हो या निष्ठावान ब्राह्मण हो—उनके स्नेह की परिधि से बाहर कोई नहीं है। कोई भी उनकी करुणा से उनके स्नेह से वंचित नहीं है। वे गुण-दोष का विचार नहीं करतीं। ठाकुर फूँक-फूँक कर पाँव रखते थे, चुन-चुनकर ग्रहण करते थे और जो पसन्द नहीं आता, उसे थोड़ा दूर ही रखकर चलते थे। ऐसे में माँ का वात्सल्य ऐसा था, जो दोनों हाथ फैलाकर सबको अपनी गोद में बिठा लेना चाहता था। यह ठाकुर के लिए साध्य नहीं था। और इसीलिए तो माँ की आवश्यकता थी। माँ न होती तो यह महान विस्तार कैसे होता? माँ के सबको किस

तरह आकृष्ट किया है? अच्छे-बुरे का कुछ भी विचार नहीं किया। ठाकुर के ही संतानों में से अनेकों ने यह बात कही है कि ठाकुर चुन-चुनकर लेते थे लेकिन माँ? माँ ने किसी को नहीं छोड़ा, कोई भी उनके स्नेह से वंचित नहीं होता। माँ का स्नेह सर्वग्राही है। ठाकुर को ब्रह्मदर्शन होता है, वे सर्वत्र उस एक परमात्मा—एक तत्व को देखते हैं, पर क्या वे माँ के समान गुण-दोष का विचार न कर सबको अपना सकते थे? इस तरह की अहैतुकी स्नेह क्या कहीं और दिखाई देती है? इस जगत में माँ के स्नेह की कोई उपमा नहीं है। माँ की तुलना नहीं हो सकती। किन्तु जागतिक दृष्टि से देखें तो गर्भधारिणी माँ का समस्त स्नेह केवल अपनी संतान पर इस प्रकार केन्द्रित होता है कि एक के लिए वह माँ है तो दूसरे के लिए राक्षसी। लेकिन क्या ऐसी माँ की कल्पना की जा सकती है, जो अच्छे-बुरे,शत्रु-मित्र सबको अपनी संतान के रूप में ग्रहण कर सकती है? क्या इसका कोई एक दृष्टांत है जगत में कहीं? बड़े-बड़े धर्मज्ञ, वक्ता, अवतार, ऋषि-मुनि में भी अच्छे-बुरे का खूब पार्थक्य बोध रहता है। तत्वज्ञानी की दृष्टि से उन्होंने सर्वत्र ब्रह्मदर्शन किया है। लेकिन वही ब्रह्म जब धूल-कीचड़ और मल-मूत्र से लिपटा हुआ सामने आता है, तब कितने लोग हैं जो उन्हें अपनी गोद में ले सकें? यह बात विचार करने योग्य है। जिसे हम ब्रह्मदृष्टि कहते हैं, वह केवल तत्व की बात है। ठाकुर कहते है—"आँखें बन्द करके जिसे देखता हूँ, आँखें खोलकर उसे ही देखता हूँ।" सच बात है। किन्तु व्यावहारिक जगत् में इस तरह सबको समान भाव से अपना लेना, सबके ऊपर बिना किसी पक्षपात के स्नेहवर्षण करना, यह माँ को छोड़कर कौन कर सकता है? माँ को छोड़कर क्या और कोई दृष्टांत

है? गर्भधारिणी माँ अपना सुख न देख केवल संतान के सुख देखती है, पर केवल अपनी ही संतान का। जिस संतान को वह जन्म देती है, उससे वह जितना प्रेम करती है, उतना क्या वह दूसरे की संतान से करती है? वह एक माँ तो है, पर केवल अपनी उस संतान की, जिसे उसने जन्म दिया, सबकी नहीं। वह सब पर समान रूप से स्नेहवर्षण नहीं कर सकती। किन्तु ऐसी माँ, जिसकी संतान सारा जगत् हो, उसकी स्नेहधारा की कल्पना क्या हम कर सकते हैं? ऐसी माँ यदि न आतीं तो हमारे जैसे सामान्य लोगों के लिए इस जगत् में पैर रखने का भी स्थान न होता। हम लोग माँ की ही कृपा से संघ में आए हैं, अपना जीवन अर्पण किया है। वैसे तो हम लोग अपने बारे में ठीक से विचार ही नहीं करते, फिर भी इतना तो अच्छी तरह से समझ सकते है कि माँ का एक विशेष आकर्षण है। आकर्षण तो ठाकुर का भी है पर इतनी सहजता से हम उसका आस्वादन नहीं कर पाते, जितना माँ का कर पाते हैं। आस्वादन की बात कह रहा हूँ, तत्त्व की नहीं। श्रीरामकृष्ण- तत्त्व और माँ-सारदा-तत्त्व अभिन्न हैं, इस विषय में कोई संदेह नहीं; लेकिन जब हम अपने लिए चाहते हैं, अपने अंतःकरण की आवश्यकता मिटाने के लिए चाहते हैं, तो किसे चाहेंगे? तब क्या सहज ही माँ को नहीं चाहेंगे? जैसा कि ठाकुर कहते—"मुझे माँ चाहिए, माँ नहीं होने से नहीं चलेगा।" ठाकुर की जो माँ है, वे ही तो हमारी भी माँ हैं। वे ही न होतीं तो यह सर्वग्राही प्रेम कहाँ से मिल सकता था? वे ही तो हैं जो सर्वत्र सबको समान दृष्टि से देखती हैं। पहले ही कहा था कि हम जिनके प्रति शत्रु बुद्धि रखते हैं, जिसे हम गलत आचरण समझते हैं,जिसे हम सामाजिक दृष्टि से

यह जो माँ का सर्वग्राही स्नेह है, 'श्रीरामकृष्ण-भाव-आन्दोलन' में उसका जो स्थान है, उसकी किसी के साथ तुलना नहीं हो सकती। उसका स्थान श्रेष्ठतम है। वे न होतीं तो श्रीरामकृष्ण-तत्त्व पर सम्भवतः एक वेदान्त ग्रन्थ लिखा जा सकता था; लेकिन इस तरह उनका आस्वादन नहीं किया जा सकता था। यदि माँ न आई होतीं तो हम श्रीरामकृष्ण के भाव का वैसा आस्वादन न कर पाते, जैसा कि आज कर रहे हैं। श्रीरामकृष्ण के भाव का आस्वादन कितने लोग कर पाते, कितने लोगों के पास इतनी आध्यात्मिक सम्पदा है, कितने लोगों का इतना सौभाग्य है, जिनके द्वारा वे श्रीरामकृष्ण का आस्वादन कर पाएँगे? लेकिन माँ सबके लिए सहज लभ्य हैं। इतना सहज कि लगता है कि उनसे हमारा नित्य का परिचय है। जो भी उनके पास जाते, परायापन अनुभव नहीं करते थे, जब माँ के पास जाते तो ठीक माँ को ही पाते, अपनी माँ को पाते। माँ के स्वरूप को तो हम शायद नहीं जानते—शायद क्यों, सचमुच ही नहीं जानते क्योंकि जानने के लिए मन की शुद्धता चाहिए, पर वहाँ इसकी आवश्यकता नहीं, माँ को न जानकर भी हम माँ का भरपूर आस्वादन करते हैं, उसमें कमी नहीं होती। पण्डित जिस तरह जानते हैं, ज्ञानी जिस तरह जानते हैं, उस तरह तो हम नहीं जान सकते, किन्तु कौन-सी सन्तान अपनी माँ को नहीं जानती? इस मातृभाव ने ही श्रीरामकृष्ण को हमारे लिए अति दूर—उस सूर्य लोक से— हमारे हाथों के पास ला दिया है। स्निग्ध, शान्त, करुणा, सर्वदा हमारे दोषों के प्रति उपेक्षा की दृष्टि, सदा

स्नेह का आकर्षण—यह सब माँ के न होने पर क्या हो पाता? यह सब माँ का अवदान है। श्रीरामकृष्ण के भीतर भी जिन्होंने देवी-तत्त्व का आस्वादन किया है, श्रीरामकृष्ण उनकी माँ हैं, किन्तु श्रीरामकृष्ण के भीतर मातृभाव का आस्वादन करने वाले अधिकारी कितने हैं? बिरले ही होंगे। किन्तु माँ को तो सभी पा सकते हैं। हमारी दृष्टि थोड़ी-सी भी माँ की ओर जाती है, तो माँ की वह स्नेहमयी दृष्टि हमें अमोघ रूप से आकर्षित करती है। माँ के छाया-चित्र में (जिसकी हम लोग पूजा करते हैं) जो माँ की दृष्टि है—उस दृष्टि में मानो अपार करुणा है, अजस्र स्नेह बरस रहा है। उनकी वह करुणा दृष्टि, वह स्नेह हमारे प्रति है, इसी श्रद्धा और विश्वास के साथ हमें उनकी ओर देखना और सोचना चाहिए। माँ के चरित्र को लेकर जब हम विचार करते हैं तो उनके जीवन की कुछ छोटी-मोटी घटनाओं को लेकर ही कर पाते हैं, किन्तु आस्वादन तो समग्र वस्तु की की जाती है। माँ का एक सामग्रिक रूप भी है। विश्लेषण करके सामग्रिक रूप से देखने पर ही हम माँ को पूरी तरह से पाएँगे। जब हम अपनी गर्भधारिणी माँ को प्यार करते हैं, तो क्या हम उसका विश्लेषण करके प्यार करते हैं? प्रायः नहीं। उसका एक सामग्रिक रूप है और वही साधारणतया सन्तान को आकृष्ट करता है। उसी तरह माँ का एक सामग्रिक रूप है, जिसका हम आस्वादन करते हैं।

माँ को हम इस हद तक अपना समझते हैं कि सार्वजनिक रूप से उनका प्रचार नहीं करना चाहते थे। यह एक दृढ़ सकल्प था हमारे मन में। वरिष्ठ संन्यासियों ने भी ऐसा ही सोचा था कि माँ का फोटो बाजार में नहीं रखेंगे,

उनके बारे में व्यापक रूप से बाहर कहीं नहीं बोलेंगे; क्योंकि माँ हमारी नितान्त अपनी हैं। माँ जैसे रहती थीं, घर के कोने में अपने अवगुंठन के भीतर, लज्जापटावृता, अपने को सामान्य सी बनाकर। किसलिए? हमारे लिए। इसलिए कि यदि वे अपनी प्रतिभा दिखा देतीं, तो हम भयभीत हो जाते और उन्हें अपना कह कर अपना नहीं पाते। उस अवगुंठन के भीतर जब ऐसा प्रबल आकर्षण है कि हम मुग्ध हो जाते हैं, तो आगे की क्या कल्पना करें! यह है माँ की आकर्षणी शक्ति! सबको आकृष्ट करती हैं। श्रीरामकृष्ण को आवश्यकता थी इस शक्ति की। माँ नहीं होती तो यह सब वे नहीं कर पाते। वे हम सबको इकट्ठा नहीं कर पाते। और इस कारण यह संघ माँ की ही सृष्टि है। इस बात को उनके सभी संन्यासी सन्तानों ने निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। वे संघजननी हैं, महाशक्ति हैं। स्वयं स्वामीजी अपने गुरुभाइयों को—जो धर्म-जगत् के एक

एक दिग्पाल हैं—सम्बोधित करते हुए कहते है—"भाई तुम नाराज न होना, तुम लोगों में से किसी ने माँ को पहचाना नहीं। माँ जिस महाशक्ति की आगार हैं उसे तुम में से कोई नहीं जानता।" जैसे स्वामीजी ठाकुर को अन्यों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से समझे थे, वैसे ही माँ को भी वे भलीभाँति समझे थे। उनके गुरुभाई भी स्वीकार करते हैं कि वे लोग भी स्वामीजी के समान नहीं समझ सके थे। माँ का स्नेह तो पाया था पर माँ के तत्त्व को जान पाना उनके लिए सम्भव नहीं हो सका था। बाद में धीरे-धीरे उनकी दृष्टि इस दिशा में गई। माँ के स्थूल दृष्टि से अवसान हो जाने के बाद उन लोगों की समझ में यह बात आयी। वह

विमोहिनी शक्ति जो हमें विमुग्ध किए रहती थी, जब उसका अभाव हुआ तब समझ में आया कि, अरे बाप रे, हमारी माँ कैसी थीं, उन्हें तो हम इतने दिन तक पहचान ही नही सके थे! और तब माँ ने अपने आपको धीरे-धीरे प्रकाशित किया और अभी तक कर रही हैं। यह बात मैंने एक बार एक सभा में कही थी कि माँ को हम लोग छिपाकर रखना चाहते थे; उन्हें केवल अपनी माँ समझकर हमने सभवत: स्वार्थपरता का कार्य किया था। किन्तु माँ को हम रोककर नहीं रख पाए। माँ आज अपना आवरण उन्मोचन कर समस्त जगत्-में अपने स्नेह का विस्तार कर रही हैं। पहले तो उनके अपने सन्तान ही उनका मुख नहीं देख पाते थे और अब सारा जगत् उन्हें 'माँ-माँ' कहकर पुकार रहा है। ठाकुर ने कहा था—तुम्हारे इतने सन्तान होंगे कि 'माँ-माँ' शब्द सुनते तुम तंग आ जाओगी। ठाकुर का कथन एक तरह से तो सत्य हुआ कि सारा जगत् आज उन्हें 'माँ-माँ' कहकर पुकार रहा है, किन्तु माँ तग नहीं आयीं। माँ का आकर्षण समान रूप से बना हुआ है, उनकी सहिष्णुता समान रूप से बनी हुई है। हमारे समस्त अपराधों को वे सहन करती हैं। इन माँ के न होने से क्या सब होता? पहले ही हमने सुना कि माँ ने ही सर्वप्रथम सोचा और कहा था—ठाकुर, तुम आए, इतने कष्ट सहन किए और तुम्हारे स्थूल शरीर के अन्तर्धान के बाद तुम्हारे लडके विक्षिप्त होकर चारों ओर भटक रहे हैं; तो फिर इतना कष्ट करके तुम्हारे आने की क्या आवश्यकता थी? और तब माँ विचार करती हैं कि ठाकुर का यह भाव किस प्रकार चिरस्थायी हो। ठाकुर ने आकर जिस भाव का इतना

विस्तार किया, वह क्या दो-चार लोगों के लिए ही था? उसके बाद क्या वह समाप्त हो जाएगा? माँ यह नहीं चाहती थीं और ठाकुर भी नहीं चाहते थे। यही कारण था कि ठाकुर ने माँ को रहने के लिए कहा। ठाकुर बोले—मैं जा रहा हूँ, तुम्हें यहाँ रखे जा रहा हूँ, यह सब कार्य करना है। ठाकुर का जो कार्य अपूर्ण था, वह माँ के द्वारा पूर्ण हुआ, हो रहा है और आगे भी होगा। इस तरह किसी भी अवतारसंगिनी अथवा सहकारिणी ने इतना कार्य नहीं किया। एक ने भी नहीं। जगत् के इतिहास में यह एक बेजोड़ दृष्टांत है। इस दृष्टांत को देखकर हमें समझना होगा कि माँ का इस भाव-आन्दोलन में योगदान कितना है। इस बात पर हमें मन ही मन अच्छी तरह से विचार करना होगा और यह भी ध्यान रखना होगा कि माँ को हम समझें या न समझें, पर उनका आस्वादन तो अवश्य कर सकते हैं। क्योंकि वे हमारे ही लिए इतनी सीधी-सादी, बिना पढ़ी-लिखी बनकर आई थीं। दूर से व्यवहार का नाता नहीं, माँ बनकर आई थीं और केवल हमारे लिए। उन्होंने हमें बिल्कुल अपने निकट खींच लिया है, इसीलिए वे हमारे लिए इतनी सहज हैं। सहज इसलिए हैं कि उन्हें हमने कभी समझने की चेष्टा नहीं की। कोई भी बच्चा अपनी माँ को समझने की चेष्टा नहीं करता। लेकिन क्या इससे माँ हमारे लिए अज्ञात रह जाती हैं? हाँ, बुद्धि के द्वारा अज्ञात कहा जा सकता है पर अनास्वादित नहीं हैं। उनका आस्वादन हम सबको हो रहा है और इसीलिए हम एक साथ मिलकर रह पा रहे हैं। इस संघ के लिए सर्वप्रथम माँ ने ही ठाकुर से प्रार्थना करते हुए कहा था—ठाकुर, क्या ये तुम्हारी सन्तानें अन्न का अभाव में इधर उधर भटकती फिरेंगी? क्या

तुम्हारे ये सब कार्य दो दिन बाद ही समाप्त हो जाएँगे? क्या तुम्हारा आना व्यर्थ हो जाएगा? तुम ऐसा करो कि ये सब बच्चे संघबद्ध होकर रह सकें और इन्हें साधारण अन्न-वस्त्र का अभाव न रहे। घर-गृहस्थी चलाने का उत्तरदायित्व तो माँ का ही होता है न! इसीलिए संघ का भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया। ठाकुर ने सम्भवत: इन सब बातों को अन्तर्दृष्टि से पहले ही देख लिया था, लेकिन इतना सब करने के लिए, इतनी झंझटें सहने की उनमें सहिष्णुता नहीं थी, इसीलिए माँ की आवश्यकता थी। इसीलिए वे माँ को हमारे बीच रख गए थे। 'श्रीरामकृष्ण-भाव-आदोलन' में माँ का सबसे बड़ा अवदान संघ है। ठाकुर ने आदर्श दिया लेकिन उसमें रस की सृष्टि की माँ ने। माँ के रसवारि-सिंचन न करने से यह संघरूपी फसल ही नष्ट हो जाती। आज वह पल्लवित और पुष्ट होकर क्रमश: विशाल वृक्ष के रूप में परिणत हुआ है, फल-फूल से सुशोभित हुआ है। जगत् में इस भाव का जो आदर हुआ है, सर्वत्र जो इतना समादर हो रहा है, इन सबके मूल में माँ हैं। इस बात को हम कभी न भूलें। माँ को भूलने पर हमारे लिए कहीं खड़े होने का भी स्थान नहीं रहेगा। इसलिए माँ हमारे लिए सर्वोपरि हैं, उन्हें इस रूप में हमें अच्छी तरह जान लेना होगा। वे ही संघ का संचालन और नियंत्रण कर रही हैं; अव्यक्त, पर सशक्त रूप से, यह संघ को देखकर ही समझा जा सकता है। बातचीत के दौरान यदि कोई उनसे इन कार्यों के सम्बन्ध में पूछ देता, तो वे कहतीं—बाबा, मैं क्या करूँगी, मैं तो अबला स्त्री हूँ, मैं क्या जानूँ? वे ही अबला स्त्री संघ को किस तरह संचालित कर रही हैं, यह विचारणीय बात है। स्वामीजी (विवेकानन्द) की अमेरिका

जाने की पूरी व्यवस्था हो चुकी थी, ठाकुर से भी उन्हें संकेत प्राप्त हो चुके थे। स्वामीजी बोले—नहीं! जब तक माँ नहीं कहेंगी, तब तक जाना नहीं होगा। मातृभक्त स्वामीजी कहते हैं, माँ का आदेश होगा, तभी जाऊँगा। माँ ने आशीष दिया, तब वे बोले—अब कोई चिन्ता नहीं, माँ के आशीर्वाद से मैं हनुमान की तरह सागर पार कर जाऊँगा, विश्वविजय करूँगा। और सचमुच माँ का आशीर्वाद सदा-सर्वत्र उनके साथ रहकर उन्हें पुष्ट करता रहा। स्वामीजी ने माँ को और माँ ने स्वामीजी को जैसा देखा था, वैसा क्या हम देख सकेंगे? नहीं। किन्तु न देख पाने पर भी हम जहाँ हैं वहीं से माँ का आस्वादन कर सकते हैं। माँ को न जान पाने के कारण हम उनके आस्वादन से वंचित नहीं होंगे। माँ आई ही हैं इस रूप में कि उनके आस्वादन में कोई बाधा नहीं है। वे स्वयं कहती हैं, "तुम लोग कुछ कर सको तो करो, नहीं तो बस इतना ही याद रखना कि मेरी एक माँ हैं।" अगर कोई पूछता, "माँ, मैं कुछ कर पा रहा हूँ या नहीं, मेरी प्रगति हो रही है या नहीं, यह ठीक से समझ में नहीं पा रहा हूँ।" माँ कहतीं, "बेटा, चिन्ता न करो। जैसे गहरी नींद में पलंग सहित उठाकर कोई तुम्हें कहीं ले जाय, तो क्या तुम जान पाओगे? बस इतना याद रखना कि मैं तुम्हारे पीछे खड़ी हूँ। याद रखना कि मेरी एक माँ है।" यह वे कितना जोर देकर कहती हैं, कितना साहस दे रही हैं, सर्वशक्ति की आधार माँ, हमारी माँ है; अब हमें भय किसका, चिन्ता किस बात की? रामप्रसाद कहते हैं, "रामप्रसाद ब्रह्ममयी का बेटा।" हम उस ब्रह्ममयी की सन्तान हैं, इसी विश्वास को हृदय में दृढ़ करके रखना होगा। इसी विश्वास से पुष्ट होकर संघ चलेगा। प्रत्येक कार्य के पीछे माँ हैं।

एक बार स्वामीजी ने मठ में बलिदान किया। माँ ने सुना। पूछा—किसने किया? नरेन्द्र ने किया! बोली—बाबा, अब न करना, अब यह नहीं चलेगा। माँ की एक ही बात से स्वामीजी निरस्त हो गए। इतने तीक्ष्ण-बुद्धि-संपन्न स्वामीजी, जिन्होंने ठाकुर की भी बातों को एक बार में कभी नहीं माना, माँ ने जैसे ही कहा, मस्तक झुका लिया। बलि बन्द हो गई।

एक ब्रह्मचारी को किसी अपराध के कारण महापुरुष महाराज (स्वामीजी शिवानन्द) ने मठ से निकाल दिया था। वह सीधा माँ के पास जयरामबाटी चला गया। वहाँ पहुँचकर उसने माँ को सब कुछ कह सुनाया। माँ बोली—अच्छा बेटा, पहले खा-पीकर विश्राम करो। और उसके लिए एक चिट्ठी लिखवा दी—बाबा तारक, इस लड़के ने चाहे जो अपराध किया हो इसे मठ में स्थान दो। जब उसने चिट्ठी महापुरुष महाराज के हाथ में दी तो पढ़कर वे बोले—बाप रे! तुमने तो एकदम हाईकोर्ट में अपील कर दी। हाईकोर्ट—उससे आगे और किसी की नहीं चलती। ऐसी हैं माँ! संघ संचालिका माँ—बाहर से किसी को दिखाई नहीं देती, पर अव्यक्त रूप में वे ही संघ का संचालन कर रहीं हैं, सारा नियंत्रण उन्हीं की ऊँगली के संकेत से हो रहा है। हम सभी को यह बात भलीभाँति स्मरण रखनी होगी। संघ को माँ का अवदान क्या है? संघ अर्थात् उनकी सन्तानों का संघ। यहाँ पर वे संन्यासी और गृहस्थ सन्तानों के बीच कोई भेद नहीं करतीं। चाहे कोई भला हो या बुरा, माँ क्या सन्तानों में भेद करेंगी? कोई अच्छा है, इसलिए माँ प्यार करती हों, ऐसी बात नहीं है।

रवीन्द्रनाथ की एक कविता है—बच्चा बड़ा दुष्ट है तो भी माँ उसे प्यार करती है; इसलिए नहीं कि वह अच्छा है, वरन् इसलिए कि वह बच्चा है। माँ हमसे प्यार करती हैं क्योंकि हम उनके बच्चे हैं। आज चाहे जितने भी बुरे क्यों न हों, पर हम उनकी संतान हैं इस भाव से बलवान होकर हम अच्छे बनेंगे, उनके चरणों में पहुँचेंगे, और इतना ही क्यों, उनकी गोद में पहुँचेंगे। वे तो सदा हमें अपनी गोद में लेने को बैठी हैं। हम उन्हें नहीं पकड़ पाते। स्वामीजी एक स्थान पर कहते हैं—

दोर्भ्यां विधर्तुमिव यामि जगद्विधात्रीम्। (अम्बास्तोत्रम् ६)

—एक छोटा-सा शिशु अपने छोटे छोटे हाथों से माँ को पकड़ना चाहता है। पर क्या वह अपनी शक्ति से माँ को पकड़ सकता है? लेकिन उसके हाथ बढ़ाने पर माँ स्वयं ही उसे गोद में उठा लेती हैं। माँ जानती हैं कि वह क्या चाहता है? माँ हमारी चेष्टा देखकर समझ लेंगी और अपनी गोद में खींच लेंगी। हम उन्हें पकड़ नहीं सकेंगे, कोई बात नहीं, पर माँ कहकर पुकार तो सकेंगे। उनके सामने अवनत होकर उनके स्नेह की याचना तो कर सकेंगे, छोटे-छोटे दो हाथ तो बढ़ा सकेंगे। बस यही यथेष्ट है। ऐसा न करने पर भी वे हमें छोड़ेंगी नहीं। माँ हमें पकड़े हुए हैं, पकड़े रहेंगी। हम जहाँ भी जाएँ, जितने भी कुमार्ग पर जाएँ, पर भय नहीं, क्योंकि माँ जो हैं। अभयदायिनी माँ सदा हमारे साथ हैं। उन पर विश्वास रखकर, उनके भरोसे हम निर्भय चल सकेंगे। कहेंगे—हम ब्रह्ममयी के बेटे हैं। हम माँ की ही सतान हैं, हमें डर किस बात का है? इस बात को हृदय में रखकर हमें चलना होगा। हमने माँ के विभिन्न आयामों की चर्चा नहीं

की, यह जो दो चार बातें कहीं, केवल माँ का आस्वादन करने के लिए। अन्त में मैं आपसे केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि सदा इस बात को याद रखें—जैसे श्रीरामकृष्ण हमारे कर्णधार हैं, वैसे ही और उससे भी बड़ी बात, माँ हमें गोद में लिए हुए हैं। हम लोग निर्भय हैं, हमें किसी प्रकार का भय नहीं।

*

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(बँगला पत्रों से सकलित एव अनुदित)

(३०)

मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि अधिक सुख-सुविधा की खोज में लगकर तुम इस दुरवस्था में पड गये हो। अपने ऊपर ही निर्भरता लाना चाहिए। माना की सत्सग ढूँढना आवश्यक है, परन्तु काशी में भी तो तुम्हें सत्सग का अभाव न था। और क्या कहूँ! जो उचित लगे करना।

सेवा-कार्य में जीवन अर्पित करना बड़ा ही कठिन है। जो लोग अपनी सुख-सुविधा की ओर अधिक ध्यान देते हैं, वे सेवा-धर्म अपनाने के योग्य नहीं हैं।

दुख और विपत्ति में पड़े लोगों की सहायता करना तो अति उत्तम बात है। ठीक भाव के साथ इसे कर पाने से चित्तशुद्धि होती है और हृदय भी उन्नत एव उदार हो जाता है।

(३१)

तुमने पूछा है कि गीता का सारतत्त्व क्या है। हमारे प्रभु परमहंसदेव इस विषय में जो कहते थे, उसे सम्भवत तुम जानते हो। उनका कहना था कि 'गीता' शब्द का दो चार बार उच्चारण करने से उसके तात्पर्य की उपलब्धि हो जाती है—गी...ता...गी...ता...गी...ता अर्थात् त्यागी, इस प्रकार त्याग ही गीता का सारतत्त्व है। वस्तुत गीता पाठ करने से उसकी एकमात्र शिक्षा यही प्रतीत होती है—'भगवान को सर्वस्व अर्पण'। किसी-किसी के

कथनानुसार गीता का मर्म है —समस्त कर्मफलों को निष्काम भाव से ईश्वर में अर्पित करते हुए स्वधर्म का अनुष्ठान करना। मेरे विचार से यदि कोई इसे कर सके तो फिर और क्या चाहिए। श्री भगवान स्वयं भी तो कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥[1]

अर्थात् हे अर्जुन, तुम जो कुछ भी करो, सब मेरे लिए ही करना यानी खुद के लिए कुछ भी बचाकर न रखना। परन्तु ऐसा कर पाना क्या सहज बात है? बिना कठोर परिश्रम के नहीं होता। तो भी हताश होने की जरूरत नहीं। भगवान ने यह भी तो कहा है—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।[2]

इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में सही, परन्तु उद्देश्य विस्मृत न हो। अभ्यास करते रहना होगा। इसी प्रकार एक न एक दिन अवश्य हो जाएगा।

अन्तिम जन्म में मनुष्य दैवी सम्पदा के साथ जन्म लेता है —सभी संस्कार अच्छे रहते हैं। उस जन्म में भगवत्प्राप्ति अवश्यम्भावी है। गीता का सार-मर्म है —भगवान में आत्मसमर्पण, अपने अहं-अभिमान का पूर्णरूपेण त्याग। यही मेरा अभिमत है। पूरी तौर से उनके हो जाना, जरा सा भी अपने या किसी अन्य पर निर्भर न रहना—यह गीता का

---

१. तुम जो कुछ करो, जो कुछ भी खाओ, जो भी यज्ञ-दान-तप करो, हे कौन्तेय! वह सब मुझे अर्पित कर दो। (गीता, ९/२७)

२. अनेक जन्मों तक साधना करने के बाद कहीं परमगति की प्राप्ति होती है। (वही, ६/४५)

सारोपदेश है। चाहे जैसे भी हो इतना कर पाने से मनुष्य-जन्म सार्थक हो जाता है। वे बड़े ही दयालु हैं। उनके ऊपर निर्भरता आ जाने से बाकी सब वे स्वयं ही सँभाल लेते हैं—गीता में उन्होंने ऐसी प्रतिज्ञा की है। गीता का सारतत्त्व है— **न में भक्तः प्रणश्यति**[३] फिर **न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति**[४]—यह भी गीता का एक सारतत्त्व है।

(३२)

मैंने जो गीता का सार लिखा था उसे पढकर तुम्हें आनन्द हुआ है, यह जानकार प्रसन्नता हुई। **यत्करोषि यदश्नासि** श्लोक का जो भाव तुमने लिखा है, वह ठीक है। अपने को यंत्र तथा उन्हें चालक के रूप में देखना—यह भी एक भाव है। इस क्षुद्र अहं को दूर करने के लिए इसके अतिरिक्त अन्य भाव भी हैं। उदाहरणार्थ, एक भाव यह है कि वे ही सब कुछ हुए हैं और सबके भीतर रहकर वे ही सारे खेल खेल रहे हैं। इस तरह के और अनेक भाव हैं। भाव चाहे जो भी हो, परन्तु आवश्यकता है इस क्षुद्र 'अहं' बोध को दूर करने की। इसी को समस्त अनर्थों एवं अज्ञान की जड़ समझना।

शरणागत होना अर्थात् वे जैसे भी रखें उसी को शुभ मानकर सन्तुष्ट रहने का अभ्यास करना, अपनी इच्छा को प्रभु की इच्छा में विलीन कर देना। सुख-दुख, लाभ-हानि में समत्व बोध करने का प्रयास करना; यही और क्या?

३. मेरे भक्त का विनाश नहीं होता। (वही, ९/३१)

४. हे तात! भला करनेवाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। (वही, ६/४०)

तात्पर्य यह कि मुक्त हो जाने पर ही ठीक-ठीक शरणागत हुआ जाता है; उसके पहले अभ्यास-योग है। भगवान पर पूरी तौर से निर्भरता को ही मुक्ति कहते हैं। सरल और निष्कपट होकर उस भाव का अभ्यास करने से एक दिन उनकी कृपा से वह आ ही जाता है।

त्याग के विषय में तुमने जो लिखा है, उस सम्बन्ध में ठाकुर कहा करते थे—"घर की बहू प्रारम्भ में कितने परिश्रम के साथ अनेकों कर्म करती है, परन्तु जब उसे गर्भ रह जाता है तो सास धीरे-धीरे उसके कर्म घटाती जाती है और उतने कार्य नहीं करने देती। बाद में जब उसे सन्तान की प्राप्ति हो जाती है तब कर्म बिल्कुल ही नहीं रह जाता। केवल सन्तान को ही लेकर रहना, उसी का लालन-पालन करना तथा उसी के आनन्द में आनन्दबोध करना—बस, यही एकमात्र कार्य रह जाता है।" गर्भवती होने का अर्थ है —भगवान को हृदय में धारण करना; और प्रसव होने का तात्पर्य है —उनका साक्षात्कार होना।

प्रभुकृपा का भिखारी होकर पड़े रहना—यह भी एक भाव है। यह ठीक-ठीक होने पर उनकी कृपा अवश्यम्भावी है। ठाकुर इसे बिल्ली के बच्चे का भाव कहते थे। माँ उसे जब, जहाँ और जैसे रखती है, वह वैसे ही पड़ा रहता है। उसकी दूसरी कोई इच्छा या चेष्टा नहीं रहती।

कोई भी एक भाव भलीभाँति होने से ही हुआ। प्रभु अन्तर्यामी हैं —सब समझते हैं। जैसा भाव होगा, वैसी ही उपलब्धि भी होगी।

(३३)

मेरे लिखे पत्रों से तुम्हें बहुत लाभ हो रहा है, यह जानकर मैं बड़ा प्रसन्न हूँ और अपना परिश्रम सार्थक मानता हूँ। धर्म के क्षेत्र में श्रद्धा ही कल्याण का एकमेव मार्ग है। गीता में भगवान की वाणी है—**श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्**[५] कठोपनिषद में नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का उदय होने पर ही उसे सत्य की प्राप्ति हुई थी। योगशास्त्र में भी श्रद्धा की महिमा का काफी बखान किया गया है। और **यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी**[६] —यह बात भी सर्वत्र प्रसिद्ध है। अतः तुम्हें जो कुछ लाभ हुआ है, जान लेना ही वह तुम्हारी श्रद्धा के कारण ही हुआ है।

सर्वदा स्मरण-मनन करने का प्रयास रखना तथा भीतर ही भीतर प्रार्थना करते रहना कि उनके चरणों में मन लगे। ऐसा होने पर वे कृपा करेंगे। जीवन में सुख-दुख तो लगा ही रहता है; यदि उनके पादपद्मों में भक्ति हो तभी मानव-जन्म सार्थक है, अन्यथा वह कर्मभोग मात्र है।

* * *

५. श्रद्धावान व्यक्ति को ज्ञान लाभ होता है। (गीता, ४/३९)

६. जिसकी जैसी श्रद्धा रहती है, उसे वैसा ही फललाभ होता है। (पचतंत्र, ५/९६)